શ્રી યશોવિજયજી
જૈન ગ્રંથમાળા
દાદાસાહેબ, ભાવનગર.
ફોન : ૦૨૭૮-૨૪૨૫૩૨૨
૩૦૦૪૮૪૬

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat
www.umaragyanbhandar.com

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुबिधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक़ पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" ऑफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर [illegible]लाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. [illegible]. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

(जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र)

भाग ४] मार्गशीर्ष [किरण ३

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस

पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ७॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९४

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ जैनमन्त्र-शास्त्र [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] ... १३५
२ सम्मेद शिखरजी की यात्रा का समाचार [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] ... १४३
३ बंगाल में जैनधर्म [श्रीयुत बाबू सुरेशचन्द्र जैन, बी०ए०] १५१
४ ऐतिहासिक प्रसंग [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] ... १५७
५ भट्टाकलंक का समय [श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री] ... १६५
६ एक प्राचीन गुटका [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] ... १७६
७ जैन-ज्योतिष और वैद्यक-ग्रंथ [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा] ... १८६
८ विविध विषय—(१) नषधीय चरित में जैनधर्म का उल्लेख[श्रीयुत बाबू का० प्र० जैन] १८८
(२) "जैन एन्टीक्वेरी" के लेख [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] १८९

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती—[श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये] ... पृष्ठ ३३ से ४० तक
२ प्रशस्ति-संग्रह—[श्रीयुत पं०के० भुजबली शास्त्री] ... ,, ८१ से ८८ ,,
३ वैद्यसार—[श्रीयुत पं० सत्यन्धर आयुर्वेदाचार्य] ... ,, ८१ से ८८ ,,

अंग्रेजी-विभाग—

1. Podanpura and Taksasila [By Kamta Prasad Jain, M.R.A.S.] 57
2. Knowledge and Conduct in Jaina Scriptures [By Principal Kalipada Mitra, M.A., B.L,, Sahitya-kaustubha] ... 67
3. The Jaina Chronology [By Kamta Prasad Jain, M.R.A.S.] ... 75
4. The Jaina Siddhānta Bhāskara (our Hindi Portion Vol. IV-II) 80
5. Select Contributions to Oriental Journals 82

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ४ | दिसम्बर, १९३७। मार्गशीर्ष, वीर नि० २४६४ | किरण ३

जैनमन्त्र-शास्त्र

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

आजकल बहुतेरे व्यक्तियों का विश्वास मन्त्रशास्त्र पर से सर्वथा उठता जा रहा है। इसका प्रधान कारण यह है कि अब हमारे भारतवर्ष में इस शास्त्र के ममज्ञ बहुत ही कम पाये जाते हैं। इसी का यह नतीजा है कि वर्तमान समय में सर्वत्र सुलभतया मन्त्रशास्त्र के न पथ-प्रदर्शक मिलते हैं और न इसके साधक ही। जब कोई इस शास्त्र के अल्पज्ञ साधक स्वार्थ-प्रेरित हो किसी मन्त्र या देवदेवियों को सिद्ध करने के लिये प्रयत्न करता है तब भले प्रकार उसके विधि-विधान को नहीं जानने से असफल हो बैठता या उल्टा हानि उठाता है। इन्हीं सब बातों को देखकर साधारण जनता की श्रद्धा इस शास्त्र से ही उठ जाती है। मन्त्रशास्त्र में अविश्वास होने का यही मूल कारण है। मेरे उल्लिखित कथनानुसार आजकल बहुसंख्यक साधक स्वार्थवासना से प्रेरित हो धन, संतान एवं विजय आदि की प्राप्ति के लिये ही किसी

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

मन्त्र या देव-देवियों को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। इसीसे ऐसे कलुषित साधकों को वे सिद्ध होते भी कम। यह तो लोकोपकारक विद्या है। अत एव स्त्री-वश्यादि प्रकरणों में परस्त्रीवश्यादि को मन्त्रशास्त्र में सर्वथा निन्द्य ठहराया है। यह है भी ठीक—अन्यथा इन दुर्व्यवहारों के साधक का स्वदार-संतोषादि व्रत किसी प्रकार कायम नहीं रह सकता। साथ ही साथ अधिकतर कमजोर दिलवाले साधक साधनकार्य में प्रवृत्त होते हुए किसी कारणवश घबड़ा कर या भयभीत होकर कष्टसाध्य समझ उसे बीच ही में छोड़ देते हैं। ऐसे ज्वलंत दृष्टांत एक नहीं अनेकों उपस्थित किये जा सकते हैं। इस प्रकार के कार्य से साधक अपनी अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त करना तो दूर रहा—प्रत्युत क्लेश उठाता है। यह स्वाभाविक बात है कि कोई भी देव-देवी साधक की इच्छानुवर्त्तिनी होने के पूर्व उनकी खरी परीक्षा लेती हैं। साथ ही साथ इनके मन में यह विचार भी उठना स्वाभाविक है कि यह साधक किस उद्देश से हमें सिद्ध करना चाहता है। कहीं इन्हें यह पता लग गया कि साधक का हृदय स्वार्थ-वासना से दूषित है तो फिर कहना ही क्या? एक बात और है; जिस प्रकार लोक में एक सामान्य व्यक्ति को वश करना साधारण बात है और एक विशिष्ट व्यक्ति को वश करना एक विशिष्ट बात है, उसी प्रकार साधारण देव-देवियों को सिद्ध करना बहुत आसान है—पर विशिष्ट देव-देवियों को वशवर्त्ती बनाना सहज बात नहीं है। उसके लिये विशिष्ट शक्ति, धैर्य एवं अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। वे बहुत परिश्रम से सिद्ध होती हैं। हाँ, सिद्ध होने पर न सामान्य कारणों से उनका सम्बन्ध-विच्छेद ही हो सकता है और न वे साधक को ऐसा कोई मार्मिक आघात ही पहुंचा सकती हैं। परन्तु किन्हीं साधारण देव-देवियों पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। आज वे साधक से सन्तुष्ट हैं—कल ही ज़रा सी त्रुटि पर उनसे असन्तुष्ट हो सकती हैं। बल्कि इस असंतुष्टि से वे अपने उपासक की अत्यधिक क्षति भी पहुंचा सकती हैं। इसके भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

कुछ शताब्दियों के पूर्व भारतवर्ष में हिन्दू, जैन एवं बौद्ध प्रत्येक धर्म में इस मन्त्रशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् अधिकतर उपलब्ध होते थे और वे एक से एक विशिष्ट चमत्कार को दिखला कर लोगों को चकित कर देते थे। बल्कि उस जमाने में इस मन्त्रशास्त्र के द्वारा प्रदर्शित इन चमत्कारों से बहुत से भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी भी प्रभावित हो अपने धर्म में दीक्षित होते थे। उस समय जिस धर्म में इस मन्त्रशास्त्र का बोल-बाला नहीं वह धर्म निर्जीव सा समझा जाता था। उन दिनों मन्त्रशास्त्र का एकाधिपत्य इसी से ज्ञात होता है कि शौचादि (मल-मूत्र-परित्याग) से लेकर बड़े से बड़े यागादि कृत्य की नकेल इस शास्त्र के सदा हस्तगत रहती थी। यही कारण है कि निवृत्ति-मार्ग-प्रधान जैन धर्म भी इससे नहीं बच सका। साधारण

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

गृहस्थों की बात कौन कहे बड़े बड़े तपोनिष्ठ मुनि भी अपने मार्ग के प्रतिकूल होने पर भी इससे मुक्त नहीं हो सके। क्योंकि उन्होंने समझा था कि इस युग में इसकी अवहेलना करने से फिर पीछे धर्म की रक्षा करना कष्टसाध्य हो जायगा।

वास्तव में मन्त्रशास्त्र योग का एक अंग है। इसे 'मन्त्रयोग' भी कहते हैं। जैन परिभाषा में यह पदस्थ-ध्यान के अन्तर्गत है। सुप्राचीन काल में यह केवल आध्यात्मिक सीमा के अन्तर्मुक्त था। किन्तु भारतवर्ष में एक ऐसा भी समय आया, जब कि इस शास्त्र की खास तौर से वृद्धि हुई। उस समय इसकी अनेक शाखा-प्रशाखायें निकलीं और ये आध्यात्मिक-विकाश की सीमा का उल्लङ्घन कर प्रायः लौकिक कार्य्यों की सिद्धि का प्रधान साधन बन गयीं। यही 'तांत्रिकयुग' के नाम से प्रख्यात है। जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूं इस युग में मंत्र, तंत्र एवं यंत्रों का पर्याप्त आविष्कार तथा प्रचार हुआ और इस विषय के अनेकों ग्रंथों की रचना हुई। उस समय "कितने ही अध्यात्मनिष्ठ जैन साधु इस लोकप्रवाह में अपने को नहीं रोक सके। इसलिये उन्होंने भी समयानुकूल अपने मंत्रशास्त्र को संस्कारित किया, अनेक अतिशय—चमत्कार दिखलाये, अपने मंत्रबल से जनता को मुग्ध कर उसे अपनी ओर आकर्षित किया और लोगों पर यह भलीभाँति प्रमाणित कर दिया कि उनका मंत्रवाद किसी से कम नहीं है—प्रत्युत बढ़ा चढ़ा है। साथ ही, उन्होंने कितने ही मंत्रशास्त्रों की भी सृष्टि कर डाली, जिन सब का मूल 'विद्यानुवाद' नाम का १० वाँ 'पूर्व' बतलाया जाता है"।*

अस्तु, मन्त्रशास्त्र का विषय बहुत ही गहन एवं गंभीर है। इसीलिये उसे झट-पट समझ लेना यह आसान काम नहीं है। शास्त्रों में जो इसका विवेचन मिलता है, वह अत्यधिक सुन्दर; बुद्धिगम्य एवं मननीय है। जैन-साहित्य में ज्वालिनीमत, विद्यानुशासन, ज्वालिनीकल्प, भैरवपद्मावती-कल्प, भारतीकल्प, नमस्कारमन्त्रकल्प, कामचाण्डालिनी-कल्प, प्रतिष्ठाकल्प, चक्रेश्वरी-कल्प, सूरिमन्त्रकल्प, श्रीविद्याकल्प, ब्रह्मविद्याकल्प, रोगापहारिणी-कल्प, वर्द्धमानकल्प, सरस्वतीकल्प, गणधरवलयकल्प, श्रीदेवताकल्प, वाग्वादिनीकल्प और घण्टाकर्ण-कल्प आदि मंत्रशास्त्र के अनेक मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त पद्मावती-स्तोत्र, ज्वालिनीस्तोत्र, पार्श्वनाथ-स्तोत्र, कुष्माण्डिनी-स्तोत्र, सरस्वती-स्तोत्र और ब्रह्मदेव-स्तोत्र आदि कई मंत्रस्तोत्र भी पाये जाते हैं। प्रतिष्ठा एवं भिन्न-भिन्न आराधना-सम्बन्धी ग्रंथों में भी इस विषय को काफी चर्चा की गयी है। जैनाचार्यों ने मन्त्र-व्याकरण एवं मन्त्रकोष या बीजकोष की भी रचना की है। बल्कि सुनने में आता है कि प्रातःस्मरणीय आचार्य समन्तभद्र ने भी एक मन्त्र-व्याकरण का प्रणयन किया था। उपलब्ध दिगंबर साहित्य में मन्त्र-

* देखें 'अनेकान्त' पृष्ठ ४२७

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

शास्त्र के सब से अधिक ग्रंथ मल्लिषेण आचार्य के पाये जाते हैं। आप बड़े मन्त्रवादी थे। स्वरचित 'महापुराण' में आपने अपने को खास तौर से 'गारुडमन्त्रवादवेदी' लिखा है। आपके भैरवपद्मावतीकल्प से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप सरस्वती से कोई वर भी प्राप्त किये हुए थे। इस बात को आप उक्त ग्रन्थ में 'सरस्वतीलब्धवरप्रसादः' इस पद्यांश से व्यक्त किया है। इस बात की सूचना अन्यान्य ग्रंथों से भी मिल जाती है। आचार्य मल्लिषेण 'उभय-भाषा-कविशेखर' * की पदवी से अलंकृत थे। आप जिनसेनाचार्य के शिष्य एवं अजितसेनाचार्य के प्रशिष्य थे। आपका समय विक्रम की ११वीं तथा १२वीं शताब्दी है। क्योंकि आप का 'महापुराण' शालिवाहन शक ९६९ (वि० सं० ११०४) में बन कर समाप्त हुआ था। (१) विद्यानुशासन (२) ज्वालिनीकल्प (३) भैरवपद्मावती-कल्प (४) भारती-कल्प (५) कामचाण्डालिनी-कल्प (६) बालग्रह-चिकित्सा ये छः ग्रन्थ इन्हीं की कृतियाँ हैं। इनमें विद्यानुशासन ही आप के मंत्रशास्त्र का सब से बड़ा ग्रन्थ है। इसमें २४ अधिकार तथा ५ हजार मंत्र हैं। मगर इन्द्रनंदियोगीन्द्र-द्वारा रचित ज्वालिनीमत या ज्वालिनी-कल्प लगभग इससे भी एक शताब्दी प्राचीन है। यह इन्द्रनन्दि बप्पनन्दि के शिष्य तथा वासवनंदि के प्रशिष्य थे।

यह तो जैनमंत्र साहित्य की बात हुई; इसी प्रकार बौद्धसाहित्य में ताराकल्प, वसुधारा-कल्प और घण्टाकर्णकल्प आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में तो इस मन्त्रशास्त्र का एक अलग भाण्डार ही है।

अब मंत्र-साहित्य के प्रत्येक अंगोपांग के पारिभाषिक शब्दों पर सामूहिक रूप से प्रकाश डाला जाता है :—

कल्पग्रन्थ—जिन ग्रंथों में मंत्र-विधान, यंत्रविधान, मंत्रयंत्रोद्धार, बलिदान, दीपदान, आह्वान, पूजन, विसर्जन एवं साधनादि बातों का वर्णन किया गया है वे कल्प-ग्रन्थ कहलाते हैं।

तंत्र-ग्रन्थ—जिनमें गुरु-शिष्य की संवादरूप से मंत्र-यंत्र, तन्त्र, औषधी आदि बातों का उल्लेख हो वे तंत्र-ग्रंथ से अभिहित होते हैं।

पद्धति-ग्रन्थ—जिन ग्रन्थों में अनेक देव-देवियों की साधना का विधान बतलाया गया है उनकी पद्धति-ग्रन्थ से प्रसिद्धि है।

बीजकोष—मंत्रों के पारिभाषिक शब्दों को समझने की पद्धति दिखला कर एक एक बीज की अनेक व्याख्यायें की गयी हों उन्हें बीजकोश या मंत्रकोश कहते हैं।

मार्ग—मन्त्र-शास्त्र में मन्त्र सिद्ध करने का मार्ग भी भिन्न भिन्न वर्णित हैं। क्योंकि

* कई प्राचीन प्रतियों में इनकी उपाधि 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती, भी उपलब्ध होती है।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

मंत्र शास्त्र का कहना है कि इसी उपाय-द्वारा मन्त्र सिद्ध हो सकता है। दक्षिण, वाम और मिश्र के भेद से इस शास्त्र में तीन ही मार्गों का उल्लेख मिलता है। सात्विक मंत्र सात्त्विक सामग्री-द्वारा सात्विक देवताओं की सात्विक उपासना का नाम दक्षिण अथवा सात्त्विक मार्ग है। जिस मार्ग-द्वारा मदिरा, मांस और महिला आदि कुद्रव्यों से भैरव, भैरवी आदि तामस प्रकृति की देव-देवियों की आराधना करने का विधान हो वह वाम मार्ग है। इसी प्रकार उक्त मांस-मदिरादि वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप में न ग्रहण कर उनके प्रतिनिधियों द्वारा इष्ट की सिद्धि की जाने का नाम मिश्र मार्ग है। प्रधानतया दक्षिण और वाम ये ही दो मार्ग हैं। साथ ही साथ यह भी जान लेना परमावश्यक है कि वाम मार्ग प्रायः तंत्र शास्त्र का विषय है और कल्प-ग्रन्थों में इस मार्ग का विवेचन सर्वथा नहीं मिलता है। वाममार्गी प्रायः भैरव और काली आदि देव-देवियों के आराधक होते हैं। नवनाथ ही इनके गुरु हैं और वे गुरुपादुका, श्रीचक्र एवं भैरवचक्र की पूजा किया करते हैं। परन्तु इतना बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि वाममार्ग का प्रभाव मिश्र मार्ग पर पड़ा ही है; किन्तु दक्षिण मार्ग भी इसके प्रभाव से बच नहीं सका। इसी का परिणाम है कि दक्षिण मार्गी भी पीछे तमःप्रधान देवताओं की उपासना करने लग गये। दक्षिण मार्ग सात्विक होने से एक प्रकट मार्ग है। पर वाम मार्ग असात्विक होने से गुप्त मार्ग है। इसी से वे प्रायः अपने मार्ग को बतलाने में संकोच करते हैं और प्रारंभ से ही वे "गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः" इस बात को रट लगाते हैं। तान्त्रिक ग्रन्थ प्रायः वाममार्ग को ही पुष्ट करते हैं। पीछे वाम मार्ग का बल अधिक बढ़ जाने से सात्विक मंत्र एवं सात्विक देव-देवियों का सिद्ध होना दुःसाध्य सा हो गया। मंत्र-शास्त्र से विश्वास उठ जाने का यह भी एक कारण हुआ।

सम्प्रदाय—मंत्रशास्त्र में केरल, काश्मीर एवं गौड नामक तीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं। वैदिक धर्मावलम्बी मांत्रिकों में प्रायः केरल सम्प्रदाय, बौद्धों में गौड और जैनियों में काश्मीर सम्प्रदाय निर्दिष्ट हैं। काश्मीर सम्प्रदाय वाले सरस्वती, पद्मावती आदि सात्विक देवताओं के उपासक होने से विशुद्ध दक्षिण मार्गी हैं। गौड़ सम्प्रदाय वाले काली तारा आदि तामस प्रकृति की देव-देवियों के उपासक होने से वाममार्गी होते हैं। केरल सम्प्रदाय मिश्रमार्गी सम्प्रदाय है। इसमें प्रकट रूप से तो दक्षिण और गुप्त रूप से वाम मार्ग का आश्रय लिया जाता है। राजस प्रकृति वाली महालक्ष्मी आदि ही इनकी उपास्य हैं। 'कुलार्णव' आदि ग्रन्थों में सम्प्रदाय का आश्रय लेना परमावश्यक ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य बतलाया गया है।

आगम - मार्ग एवं सम्प्रदाय के समान मंत्र शास्त्र में वेदागम, बौद्धागम एवं जैनागम इस प्रकार तीन भिन्न-भिन्न आगम वर्णित हैं। जैनागम दक्षिणमार्गावलम्बी एवं काश्मीर सम्प्रदाय-प्रधान है। बौद्धागम वाम-मार्गावलम्बी एवं गौड़सम्प्रदाय-प्रधान है। वेदागम

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

मिश्रमार्गावलम्बी एवं केरलसम्प्रदाय-प्रधान है। वैदिक मतावलम्बी मान्त्रिक मंत्र की उत्पत्ति शिव जी से मानकर वेदागम को शैवागम भी कहते हैं। मंत्रशास्त्र के सम्प्रदायों को चक्रपूजा भी मान्य है। जैनों के काश्मीर सम्प्रदाय में सिद्धचक्र, केरल सम्प्रदाय में श्रीचक्र एवं गौड सम्प्रदाय में भैरवचक्र की पूजा की जाती है।

मंत्रदीक्षा—गुरु के निकट शास्त्रोक्त विधि से मंत्र लेने को मंत्रदीक्षा कहते हैं। जिस सम्प्रदाय की विधि से दीक्षा ली गई हो उसी के अनुकूल साधना करने से मंत्र सिद्ध होता है।

मंत्रपीठिका—मंत्रशास्त्र में निम्नाङ्कित चार पीठिकाओं का वर्णन मिलता है:—(१) श्मशानपीठ (२) शवपीठ (३) अरण्यपीठ (४) श्यामापीठ। मंत्र सिद्धि में पीठिका का होना भी परमावश्यक है।

(१) श्मशान-पीठ—श्मशान पीठ उसे कहते हैं जिसमें भयानक श्मशान में प्रतिदिन रात्रि में जाकर यथाविधि मंत्र का जप किया जाता है। विवक्षित मंत्र-सिद्धि का काल शास्त्र में जितने समय का बतलाया गया हो उतने समय तक नियम से उस श्मशान में जाकर शास्त्रोक्त विधि से मंत्र सिद्ध करना आवश्यक है। भीरु साधक से यह साधना सम्पन्न होना नितान्त अशक्य है। इसके लिये बड़े दिलेर साधक की जरूरत पड़ती है। जैनियों के कुछ ग्रंथों में कहा गया है कि सुकुमाल आदि मुनीश्वर उल्लिखित पीठ से ही परमेष्ठी महामंत्र को सिद्ध कर मुक्त हुए थे।

(२) शव-पीठ—किसी मृतक कलेवर पर आसन जमा मन्त्रानुष्ठान करना 'शव-पीठ' है। यह प्रायः वाममार्गियों का ही प्रधान पीठ है। कर्णपिशाचिनी, कर्णेश्वरी, उच्छिष्टचाण्डालिनी आदि कुदेवियों की सिद्धि इसी पीठासन से की जाती है।

(३) अरण्य-पीठ—मनुष्य-संचार-रहित सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशुबहुल निर्जन एवं भयानक अरण्य में निर्भय और एकाग्रचित्त होकर मंत्र साधना अरण्य पीठ है। निर्वाण-मंत्र की सिद्धि के लिये अरण्य ही प्रशस्त बतलाया गया है। इसीलिये निर्ग्रन्थ तपस्वियों ने आत्मसिद्धि के लिये एक निर्जन अरण्य को ही पसंद किया है। सुप्राचीन काल में मुनि-महर्षि नगर-ग्राम आदि में न रह कर सदा एकान्त वन में ही निवास कर आत्म-साधना किया करते थे। इसी का परिणाम है कि नहीं चाहने पर भी अहमहमिकया बहुत सी सिद्धियाँ उन्हें आ घेरती थीं। परिग्रह को एक सुदृढ़ एवं अविच्छेद्य बन्धन समझ कर ऐहिक सुख को लात मारने वाले, विषय-विरक्त वे तपस्वी अनायास प्राप्त उन सिद्धियों का लोकोपकारक सार्वजनीन कार्य में ही उपयोग करते थे न कि अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के कार्य में। बल्कि स्वयं भयानक से भयानक रोगादि से आक्रान्त होने पर भी उनसे मुक्त होने के लिये उन सिद्धियों का उपयोग कभी उन्होंने किया ही नहीं। वास्तव में त्यागमय जीवन के लिये एकान्तवास ही सर्वथा उपयुक्त भी है।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

(४) श्यामा-पीठ—यह पीठ यदि वस्तुतः सभी पीठों से दुर्गम एवं दुरूह कहा जाय तो इसमें कोई भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस अन्तिम पीठ-परीक्षा में कोई विरले ही महापुरुष अपनी असाधारण जितेन्द्रियता से उत्तीर्ण होते आये हैं। एकान्त स्थान में षोडशी नवयौवना सुन्दरी को वस्त्र-रहित कर सामने बैठा मंत्र सिद्ध करने को एवं अपने मन को तिलमात्र भी चलायमान न होने देकर ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहने को श्यामा-पीठ कहते हैं। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि द्वैपायन-पुत्र मुनीश्वर शुकदेव आदि इस मंत्र को सिद्ध कर विजयी हुए हैं।

यहाँ तक तो केवल मंत्र-शास्त्र के बाह्य अंगों की समीक्षा हुई, अब देखना है कि मंत्र क्या चीज है और बड़े से बड़े लौकिक एवं पारलौकिक लाभ इससे किस प्रकार होते हैं। मंत्र का सम्बन्ध मानस-शास्त्र से है। मन की एकाग्रता पर ही इसकी नींव निर्भर करती है। मन को एकाग्र कर इन्द्रियों के विषय की ओर से लक्ष्य हटाकर मंत्र-साधन से वह सिद्ध हो जाता है। मन को चञ्चलता जितनी जल्दी हटेगी उतनी ही जल्दी मन्त्र सिद्ध होगा। महर्षियों ने मन्त्र शब्द की निरुक्ति—जिन विचारों से हमारा कार्य सिद्ध हो, वह मंत्र है यों बतलायी है। मैं पहले ही लिख चुका हूं कि मन्त्र-विद्या योग का एक अंग है। इस विषय के मर्मज्ञों का कहना है कि मन के साथ वर्णोच्चारण का घर्षण होने से एक दिव्यज्योति प्रकटित होती है और उन्हीं वर्णों के समुदाय का नाम मन्त्र है। इसीलिये मन्त्रशास्त्र का अर्थ 'विचार' कहा है। राजनीति-शास्त्र में भी लिखा है कि जिन विचारों को गुप्त रख कर राज्यतन्त्र चलाया जाता है—वह मन्त्र है। यही कारण है कि राज्यतन्त्र के प्रधान सञ्चालक महामन्त्री एवं उनके सहायकों को 'मंत्रिमण्डल' कहते हैं। मन्त्र का सिद्ध होना साधक की योग्यता पर निर्भर है। क्योंकि मन्त्रशास्त्र में लिखा है कि साधक को चतुर, जितेन्द्रिय, मेधावी, देवगुरु-भक्त, सत्यवादी, वाक्पटु, निर्भय, दयालु, प्रशांत, निर्लोभ, निष्कपट, निरहंकार, निरभिमान, परस्त्रीत्यागी और बीजाक्षरों को धारण करने में समर्थ होना चाहिये।

यन्त्र—अष्टगन्ध, लौह लेखनी आदि से भोजपत्र, रजत एवं ताम्रपत्रादि पर षड्दल, अष्टदल, शतदल, सहस्रदल तथा त्रिकोण, चतुष्कोण या वर्तुल रेखाओं के भीतर बीजाक्षरों को लिखना उनका यथाविधि अभिषेक, पूजन, प्राण-प्रतिष्ठा, मंत्रपुष्पादि-द्वारा साधन करना यंत्रसाधन है। सिद्धचक्र, ऋषिमण्डल, गणधरवलय, मृत्युञ्जय, कलिकुण्ड, वज्रपञ्जर एवं घण्टाकर्ण आदि यंत्रों के अतिरिक्त प्रत्येक काम्य कार्य के लिये भिन्न भिन्न हजारों यंत्र और भी बतलाये गये हैं। कहीं कहीं केवल मंत्र और कहीं कहीं यंत्र-मंत्र दोनों काम में लाये जाते है।[1] यंत्र-विद्या भी मंत्रशास्त्र का ही एक अंग है और वर्ण या बीजाक्षरों को एकाग्रतापूर्वक लिखना ही इस साधन की मुख्य क्रिया है

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

तन्त्र—औषधियों के द्वारा कार्य सिद्ध करना तंत्रसाधन है। कितने ही तंत्रों में यंत्र, मंत्र का भी उपयोग होता है। मंत्र, यंत्र तथा तंत्र का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह तंत्र भी मंत्र-शास्त्र का अंग ही है। अब मैं बतलाना चाहता हूं कि यंत्रमंत्रादि से कौन कौन से काम लिये जाते हैं और वे कुल कितने विभागों में विभक्त हैं।

(१) स्तम्भन (२) मोहन (३) उच्चाटन (४) वश्याकर्षण (५) जृम्भण (६) विद्वेषण (७) मारण (८) शांतिक (९) पौष्टिक। इस प्रकार मंत्र का प्रयोग प्रायः नौ प्रकार का होता है। स्तम्भन—जिस मंत्र-यंत्रादिक के प्रयोग से सर्प व्याघ्रादि श्वापद, भूत-प्रेतादि व्यन्तर, परचक्र (शत्रुसेना) आदि के आक्रमण का भय दूर होकर वे जहाँ के तहाँ निष्क्रिय से स्तम्भित रह जायँ उसे स्तम्भन कहते हैं। मोहन—जिस प्रयोग के द्वारा साधक किसी को भी मोहित कर ले उसे मोहन कहते हैं। मोहन प्रयोग के प्रधानतया तीन भेद हैं—(१) राजमोहन (२) सभा-मोहन (३) स्त्रीमोहन। उच्चाटन—जिस प्रयोग से किसी का मन अस्थिर, उल्लास-रहित एवं निरुत्साह होकर पद-भ्रष्ट एवं स्थान-भ्रष्ट हो जाय उसे उच्चाटन कहते हैं। किन्तु इस प्रयोग-द्वारा कोई प्रेमान्ध व्यक्ति अपने प्रेमपात्र का चित्तोच्चाटन करे तो इसका दुरुपयोग ही समझा जायगा। भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षसादि पीडाप्रद व्यन्तरों को किसी पीड़ित प्राणी से दूर भगाने के लिये ही इस उच्चाटन प्रयोग की सदुपयोगिता कही जायगी। वश्याकर्षण—जिस प्रयोग से इच्छित व्यक्ति या वस्तु साधक के पास स्वयं चला आये—उसका विपरीत मन भी अनुकूल होकर साधक के आश्रय में आ जाय, उसे वश्याकर्षण कहते हैं। इसके द्वारा सर्प, व्याघ्रादि तिर्यञ्च, स्त्री-पुरुषादि मनुष्य एवं भूतप्रेतादि व्यंतर आकृष्ट हो जाते हैं। जृम्भण—जिस प्रयोग के द्वारा शत्रु एवं भूत-प्रेतादि व्यंतर साधक की साधना से भयत्रस्त हो जायँ, दब जायँ, काँपने लग जायँ उसे जृम्भण कहते हैं। विद्वेषण—जिस प्रयोग से कुटुम्ब, जाति, देश आदि में परस्पर कलह और वैमनस्य की क्रांति मच जाय उसको विद्वेषण कहते हैं। मारण—आततायियों को मंत्रप्रयोग-द्वारा साधक प्राणदण्ड दे सके, उस प्रयोग को मारण कहते हैं। पर है यह बड़ा ही क्रूर प्रयोग। शांतिक—जिस प्रयोग के द्वारा भयङ्कर से भयङ्कर व्याधि, ब्रह्मराक्षसादि भयानक व्यंतरों की पीड़ा, क्रूरग्रह, जंगम एवं स्थावर विष-बाधा, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्षादि ईतियाँ, और चौरभयादि प्रशांत हो जायँ उसे शांतिक कहते हैं। पौष्टिक—जिस प्रयोग के द्वारा सुख-सामग्रियों की प्राप्ति होती है उसे पौष्टिक प्रयोग कहते हैं। किसी किसी के मत से सांतानिक प्रयोग अर्थात् वंध्यात्व से मुक्त होना भी एक अलग प्रयोग माना गया है। परंतु बहुसंख्यक मांत्रिकों ने इसे उल्लिखित प्रयोग में ही गर्भित किया है। हाँ, यहां एक बात बतला देना परमावश्यक है कि इन नौ प्रयोगों में से सात्विक साधक मारण, मोहन आदि क्रूर कर्मों को पसंद नहीं करते। वे केवल लोकोपकार की दृष्टि से शांतिक, पौष्टिकादि सौम्य प्रयोगों का ही उपयोग करते हैं।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

सम्मेद शिखरजी की यात्रा का समाचार

(लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन)

——:※:——

जैनियों में तीर्थयात्रा के लिये चतुर्विध-संघ निकालने का रिवाज पुरातन है। पहले पहल यह रिवाज कब अमल में लाया गया, इसका पता लगाना अन्वेषक-विद्वानों का काम है। हाँ, यह हम जानते हैं कि मध्यकालीन भारत में इसका अधिक प्रचार था, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उससे प्राचीन भारत के जैनियों में यह प्रथा प्रचलित थी या नहीं? वास्तव में यह एक स्वतंत्र विषय है, जिसके लिये साहित्य का गहन अध्ययन और परिशीलन वांछनीय है। प्रस्तुत लेख में हम पाठक, महाशयों के समक्ष एक तीर्थयात्रा-संघ का परिचय उपस्थित करेंगे, जो विक्रमीय १९वीं शताब्दी में मैंनपुरी से सम्मेदशिखर की यात्रा के लिये गया था।

मैंनपुरी

मैनपुरी संयुक्त प्रांत की आगरा कमिश्नरी का एक प्रमुख नगर है। वहाँ के ध्वंसावशेषों से मैंनपुरी एक प्राचीन नगर प्रतीत होता है। कहते हैं कि उसका प्राचीन नाम मदनपुरी था; वही नाम अपभ्रंश भाषा में 'मइनपुरि' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इससे अधिक उसका आरंभिक परिचय कुछ भी नहीं मिलता। हाँ, मुसलमानी ज़माने में उसके अस्तित्व का पता चलता है और वह कन्नौज सरकार के अधीन था। किन्तु जब से मैंनपुरी में चौहान क्षत्रियों का आगमन हुआ तब से उसकी श्री-वृद्धि खूब हुई। सन् १३६३ ई० में मैंनपुरी का चौहान राजा प्रतापरुद्र नामक एक वीर क्षत्रिय था। बहलोल लोदी के राज्यकाल में वही मैंनपुरी के प्रमुख ज़मींदार थे और उन्हीं के अधिकार में भौगाँव, पटियाली और कम्पिल भी थे। उनके पुत्र नरसिंहदेव थे, जिनको दरया खाँ लोदी ने सन् १४५४ में क़त्ल किया था। परंतु इसपर भी उनकी संतान मैंनपुरी की राज्याधिकारी बनी रही। ग़दर के ज़माने में राजा तेजसिंह उन्हीं की संतति में २१वें उत्तराधिकारी थे। राजा प्रतापरुद्र ने उस नगर को काफी उन्नत बनाया था—चौहानों का अपना पक्का क़िला बन गया था और उस क़िले के आसपास धीरे-धीरे एक समृद्धिशाली नगर आबाद हो गया था। मथुरा से चौबे—ब्राह्मण, भौगांव से कायस्थ और करीमगंज तथा कुरावली से सरावगी (जैनी) आ-आकर बस गये थे। राजा जसवंतसिंह ने सन् १७४९ ई० में अपने भाई मुहकमसिंह की याद में 'मुहकमगंज' बसाया था। अंग्रेजों ने ग़दर के बाद मैंनपुरी के राज-पद पर राजा तेजसिंह के चाचा भवानी सिंह जी को बिठाया था। अंग्रेजी हाकिमों में

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

लेन सा० और रैकस सा० लोगों में बहुत ही प्रसिद्ध थे। रैकस (Raikes) सा० ने सन् १८४८—१८५० ई० में 'रैकसगंज' बसाया था और उसके बाद लेन सा० ने 'लेन—टैंक' (तालाब) बनाया था। सन् १८७२ ई० में मैंनपुरी में बैश्यों की संख्या ७४३३ थी, जिनमें अधिकांश जैनी थे।* ये जैनी अग्रवाल, खंडेलवाल, बुढ़ेलवाल आदि उपजातियों में बँटे हुए थे।

रुइया-वंश

विक्रमीय १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध-भाग में वहाँ बुढ़ेले जैनियों की प्रधानता थी। उनमें भी 'रुइया' वंश के महानुभाव प्रमुख और राज्यमान्य थे। उस समय वहाँ चौहान-वंशी राजा दलेलसिंह जी का राज्य था; किंतु मालूम ऐसा होता है कि दिल्ली के मुसलमान बादशाहों के वह करद थे, क्योंकि तात्कालीन कवि कमलनयनजी ने मैंनपुरी को आगरा सूबा, सरकार कन्नोज, चकला इटावा, परगना भीमगाम (भोगाँव) में अवस्थित लिखा है।† यह शासन-व्यवस्था मुग़ल-सरकार की थी, यह बात 'आइने अकबरी' के देखने से स्पष्ट होती है। उल्लिखित कवि कमलनयन जी हमें बताते हैं कि मैंनपुरी के जनियों में तब साहु नंदराम जी प्रमुख थे। केवल जैनियों के ही नहीं, बल्कि वह पुरवासियों के सिरमौर थे। उन्हें वह काश्यपगोत्री नगरावार कहते हैं।‡ वर्तमान 'रुइया-वंश' के ज्ञात आदिपुरुष श्रीशिवसुखराय जी थे, जिनके पुत्र कुंदनदास और पौत्र नंदराम थे। नंदरामजी ने रुई का व्यापार आरंभ किया था, जिस की वृद्धि उनके पुत्र साहु धनसिंह जी ने की थी। इस व्यापारिक सफलता के कारण ही साहु नंदराम का वंश 'रुइया' नाम से प्रसिद्ध हुआ था। साहु नंदराम की संतति में साहु उलफ़तराय जी थे, जो लेखक (का० प्रसाद) के

---

* See Statistical, Descriptive and Historical Accounts of the N. W. P. of India by E. T. Atkinson, Vol. IV. pp. 474-720.

† "आगरे के सूबे में चकला इटावा बसै, जाके सिरकार कन्नौज एक जानिये।
तिसही इटाए के परगनै में भीमग्राम, तिसमें मैनपुरी जहां राजै रजधानी पै—
नृपति दलेल सिंघ जाके कोई नांहि बिगरेहि, सदा दान दीन दुखी पहिचानिये।"
—जसवन्त नगर के जैन मंदिर में विराजमान हस्तलिखित "जिनदत्त-चरित्र" में देखो।

‡ "जाति बुढ़ेले वंश जदु। मैंनपुरी सुख वासु॥
नगरावार कहावते, कासिप गोत सु तासु॥
नन्द राम इक साहु वहां, पुरवासिन सिरमौर।"
—देखो वरांग चरित्र उपरोक्त मन्दिर में।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

श्वसुर थे और जिनसे साहु नंदराम का वंश-वृक्ष और वृत्तांत उसे निम्न प्रकार ज्ञात हुआ था :—

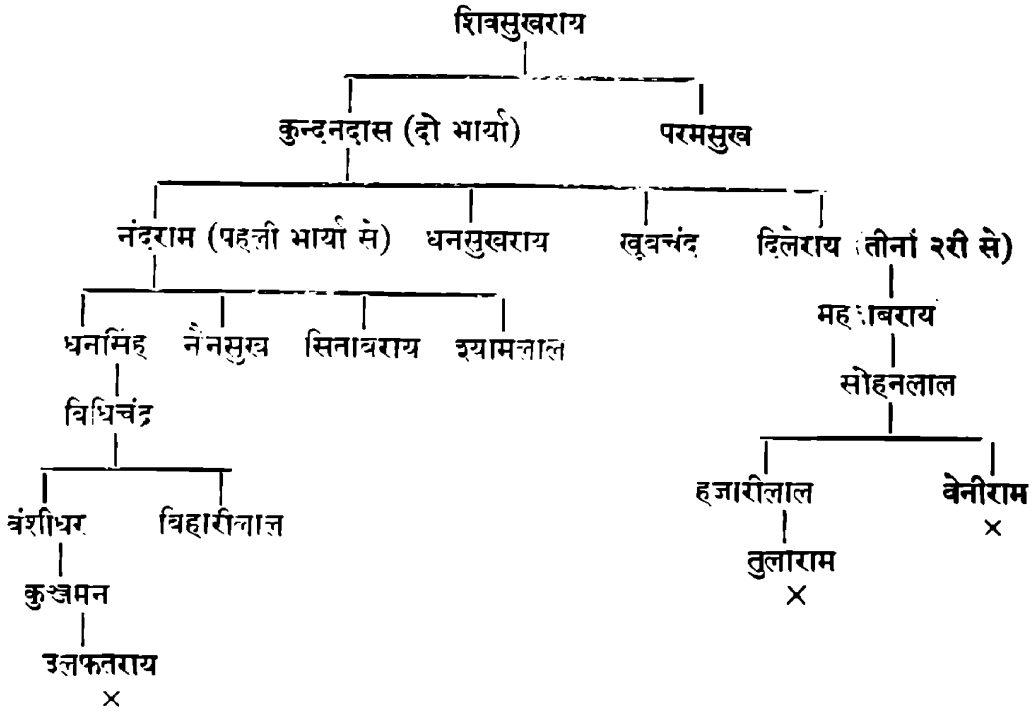

साहु धनसिंह जी एक व्यापारकुशल, पुरुषार्थी और धर्मात्मा सज्जन थे। उन्होंने अपने पिता नंदराम-द्वारा चालित रुई के व्यापार को खूब तरक्की दी। उनकी दूकानें फर्रुखाबाद, फरिहा, कोटला आदि रुई के केन्द्र-स्थानों पर थीं। इस व्यापार में उनको खूब लाभ हुआ। यहाँ तक कि उस समय उनके समान कोई दूसरा धनवान् न था। आजतक साहु धनसिंह के धनाढ्य होने की बात लोक-प्रचलित है। पुराने लोग जब कभी अपने निकम्मे लड़के को इन शब्दों में ताड़ना देते मिलते हैं कि "जासे तो तू साहु धनसिंह को बैल होतो तो नीको थो, हुंअन तोय लडुआ—जलेबी तो खान को मिलते।" इस जनश्रुति से रुइया लोगों की समृद्धिशालीनता का पता चलता है। लेखक ने उनकी गगनचुम्बी विशाल 'हवेली' का एक अंश देखा था; किंतु आज वह भी धराशायी है और अपने गर्भ में अज्ञात सम्पत्ति को लिये हुई अनुमानी जाती है। उसका वर्तमान ध्वंस-रूप मानो यही चेतावनी देता है कि 'दुनियां के लोगो, घमण्ड न करो—यहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है।'

धनाढ्य होने के साथ ही साहु धनसिंह धर्मात्मा सज्जन थे। वह निरंतर धर्म-कार्यों को करने में आनन्द मानते थे। उनके शेष तीन भाई भी उन्हीं के अनुरूप धर्मी-कर्मी और

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

विवेकी नर-रत्न थे। उन में सब से छोटे साहु श्यामलाल जी थे। ज्ञात होता है कि

संघपति

वह संस्कृत के विद्वान् थे, क्योंकि कवि कमलनयनजी को संस्कृत भाषा में रचे हुए 'जिनदत्त-चरित्र' का अर्थ जहाँ-तहाँ इन्होंने ही बताया था।* इस उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि कवि कमलनयन जी ने जिन नगरावार काश्यप गोत्री नन्दरामजी का उल्लेख किया है, वह रुइया वंशके ही थे, क्योंकि उन्होंने श्यामलालजी को साहु नन्दराम का पुत्र लिखा है, जैसे कि वे रुइया वंश-वृत्त में भी बताये गये हैं। अच्छा तो, इन्हीं धर्मात्मा सज्जनोत्तम साहु धनसिंहजी का श्रीसम्मेद-शिखरजी तीर्थराज की वंदना सहधर्मी भाइयों के साथ करने का शुभ-भाव हुआ। लोगोंने यह समाचार चाव से सुना, क्योंकि उस ज़माने में तीर्थ-यात्रा करना अत्यन्त दुष्कर था। न तब तेज रफ्तार से चलनेवाली सवारियां थीं और न सड़कें ही पुख्ता और सुरक्षित थीं। भक्तजन तीर्थ-यात्रा करने के लिये तरसते थे। बस, तब धर्मश्रद्धालु भव्यजनों को साहु धनसिंहजी का प्रस्ताव बड़ा रुचिकर हुआ। सर्वसम्मति से साहु धनसिंहजी के नेतृत्व में एक यात्रा-संघ मैंनपुरी से मिती कार्तिक कृष्णा पञ्चमी बुध वार संवत् १८६७ को सम्मेद-शिखर तीर्थ की यात्रा के लिये चला। कहते हैं कि इस यात्रा-संघ में करीब २५० बैलगाड़ियाँ और करीब १००० यात्रिगण थे। साहु धनसिंह जी ने उनकी हर तरह से सार-संभाल कर उपकार किया था।

पाठकगण शायद आश्चर्य करें कि यह पुरानी बात मालूम कैसे हुई? क्या यह केवल सुनी हुई बात है? वास्तव में यह केवल सुनी हुई बात नहीं है; बल्कि एक प्रामाणिक वार्ता

प्रमाण

है और इसका प्रमाण "श्री समेदसिखिर की यात्राका समाचार" नामक हस्त-लिखित पुस्तिकायें हैं, जो हमें अलीगञ्ज और मैंनपुरी के जैन-मंदिरों में देखने को मिली हैं। इन पुस्तिकाओं में उपर्युक्त यात्रा-संघ का पूर्ण विवरण पद्य में लिखा हुआ है। जिस पुस्तिका के आधार से हम लिख रहे हैं, उसका आकार ९॥ × ४॥ इञ्च है और उसका काग़ज देशी और मोटा है। उसमें लिखे हुये कुल ११ पृष्ठ हैं। आरम्भ में एक पृष्ठ विना लिखा हुआ है। उसके बाद दूसरे पृष्ठ की दूसरी तरफ से रचना लिखी गई है। प्रत्येक पृष्ठ में करीब १७-१८ पंक्तियाँ हैं। यह प्रति संवत् १८६९ वैसाख कृष्ण ४ गुरुवार की लिखी हुई है और इसे किन्हीं 'भोलानाथ कायस्थ' ने लाला सोहन लाल के पठनार्थ लिखा था। उल्लिखित वंशवृत्त देखने से ज्ञात होता है कि ला० सोहनलाल साहु धनसिंह के भतीजे थे। यह प्रति हमें स्व० पं० श्रीराजकुमार जी द्वारा प्राप्त हुई थी और अब हमारे पास है।

किन्तु खेद है कि इस यात्रा-समाचार रचना के रचयिता के नाम-धाम का पता कुछ भी नहीं

---

* "श्यामलाल के सहाइ पुत्र, नन्दराम गाई, अर्थ जिन दीइ बताय, नाहि जहां जानिया।"
—जिनदत्तचरित्र (जसवन्त नगर की प्रति)

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

चलता। रचना में कहीं पर भी लेखक ने अपना नाम सूचित नहीं किया है। फिर भी हमारा अनुमान है कि यह रचना बहुत कर के कविवर श्रीकमलनयन जी की है; क्योंकि पहले तो वह साहु नन्दराम धनसिंह के समकालीन और उन से घनिष्ठता रखनेवाले थे और दूसरे उस समय मैंनपुरी में हिन्दी में पद्य रचनेवाले वही मिलते हैं। इस रचना का सादृश्य भी उनकी रचनाओं से है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि साहु धन सिंह कवि कमलनयन के सदृश धर्मात्मा सज्जन को संघ के साथ ज़रूर ले गये होंगे। इसलिये उन्होंने ही यात्रा का पूर्ण विवरण पद्यबद्ध किया होगा और साहु धन सिंह आदि ने उसे लिखवा कर मंदिरों और श्रावकों को भेंट किया होगा। मालूम ऐसा होता है कि कमलनयनजी की रचनाओं को लिखवा कर यह महानुभाव सर्वसाधारण में प्रचलित कर देते थे, क्योंकि उनके समय की लिखी हुई प्रतियां मिलती हैं। अच्छा तो, इन कवि कमलनयन जी का परिचय पा लेना भी उपयुक्त है—यह परिचय केवल उन्हीं के ग्रन्थों से प्राप्त होता है और बहुत ही संक्षिप्त है। मैंनपुरी के बुढ़ेले जैनियों से उनके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। उन के लिये यह एक नया समाचार था कि कोई कवि कमलनयन जी उनके मध्य हो गये हैं। जहां अपने निकटवर्ती मान्य पूर्वज का परिचय लोगों को प्राप्त न हो, वहां उन्हें अपनी जाति और कुल के महत्व और गौरव का भान भला क्या होगा? खैर, स्वयं कवि महोदय के अनुग्रह से हम जानते हैं कि वह (कवि कमलनयनजी) मैंनपुरी के अधिवासी बुढ़ेले जातीय श्रावकोत्तम थे। उनके पितामह राय हरिचन्द थे और उनके पिता का नाम श्री ला० मनसुखरायजी था जो एक अच्छे वैद्य थे। इन मनसुखरायजी के दो पुत्र थे। जेठे पुत्र का नाम छत्रपति और छोटे का नाम कमलनयन था। कमलनयन जी ने कहीं-कहीं पर कविता में अपना नाम 'दृगकंज' भी लिखा है। उन्होंने जैनधर्म-विषयक कई ग्रन्थों की भाषा रचना पद्य में की है; जिससे पता चलता है कि वह एक धर्मज्ञान लिये हुए विवेकी सज्जन थे।* उनके समय का बहुभाग धर्म-विषयक चर्चा-वार्ता में बीतता था। एक समय

कवि कमलनयन

---

* "आसंवत्सर वेद[४] रस[६] रंध्र[८] चंद्र[१] पहिचानि। राज विक्रमादित्य नृप गत वर्षैं भवि जानि॥
कातिक सुदि सुभ पंचमी कियौ ग्रंथ आरंभ। चैत्र कृष्ण तेरास तिथी पूरन भयौ निदंभ॥
× × × ×
जाति बुढैले जानिये बसैं महा धनवंत। नन्दराम आदिक बहुत साधर्मी गुनवंत॥
तिनही में इक जानिबै नाम राय हरिचन्द। वैद्यककला-परवीन अति मनसुख राय सुनन्द॥
तिनके सुत जेठे ए नाम छत्रपतिसार। तिन लघु भ्राता जानिये कमलनयन निरधार॥
एक समय निज छाड़ पुर गये प्रयाग मंझार। मन में इच्छा यह भई कीजै देश विहार॥
तजीरथरा प्रयागवर तहँ श्रावग बहु लोय। अगरवाले जातिवर बसैं महाजन सोय॥

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

आप को देशाटन करने की इच्छा हुई और आप प्रयाग पहुंचे। वहां अच्छा सत्संग पाकर आप रम गये। उस समय प्रयाग में श्री विधिचन्द्र हीरामल जी नामक अग्रवाल जैनी बहु-प्रसिद्ध थे। हीरामल जी के पुत्र श्रीलाल जी थे। हमारे कवि की इनसे मित्रता हो गई। मित्रता इसलिये हुई कि श्रीलालजी उनकी नजर में 'परम धर्म की खानि' थे। उन्हीं के आग्रह से कवि महोदय ने 'अढ़ाई द्वीप के पाठ' की भाषा-रचना पद्य में रची थी। उनकी उपलब्ध रचनाओं में यही सर्वप्राचीन है। बहुत संभव है कि यही उनकी पहली रचना हो, क्योंकि जब लालजी ने इस रचना का प्रस्ताव उनके सामने रखा था तो उन्होंने इसे दुष्कर जानकर अस्वीकार किया। परन्तु लालजी ने उन्हें जिनेन्द्र आज्ञा लेनेके लिये कहा। संभवतः उन्होंने इस आज्ञा के लिये जिनेन्द्र-पासाकेवली का उपयोग किया। जिनआज्ञा मिल गई—कमलनयन जी का उत्साह बढ़ गया—उन्होंने 'अढ़ाई द्वीप का पाठ' रच दिया। इसे उन्होंने संवत् १८६३ में संपूर्ण किया था। इस समय वह युवावस्था की प्रारंभिक चंचलता को पार करके प्रौढ़ता को प्राप्त हुए प्रतीत होते हैं। इसके बाद उनकी उपलब्ध रचनाओं में संवत् १८७३ की रची हुई (१) श्रीजिनदत्त-चरित्र और (२) श्रीसहस्रनाम पाठ नामक रचनायें मिलती हैं। उपरांत संवत् १८७६ में उन्होंने 'पंचकल्याणक-पाठ' रचा और संवत् १८७७ में 'वारांग चरित्र' लिख कर समाप्त किया था। अनुमान होता है कि प्रयाग आदि नगरों का देशाटन करके वह ३ वर्ष में लौटे होंगे और लौटने पर संवत् १८६७ में साहु धनसिंह जी के साथ सम्मेद-शिखर की यात्रा को चले गये। वहां से संवत् १८६८ में वह मैंनपुरी आये। मैंनपुरी आने पर उन्होंने 'यात्रा-विवरण' लिखा। मालूम होता है कि फिर साहु श्यामलाल की संगति में रह कर उन्होंने 'जिनदत्त-चरित्र' का ठीक-ठीक अर्थ समझा और संवत् १८७३ में उसे रच कर समाप्त कर दिया। यह उनका संक्षिप्त परिचय है।

यात्रा-विवरण

उपर्युक्त यात्रा-विवरण पुस्तिका को देखने से पता चलता है कि साहु धनसिंह जी के नेतृत्व में मिती कार्तिक कृष्ण पंचमी बुधवार संवत् १८६७ को मैंनपुरी से अनेक जैनियों का संघ श्रीसम्मेदशिखरादि तीर्थों कोयात्रा—वंदना के लिये रवाना हुआ था। उस रोज मैंनपुरी में जलेब (रथयात्रा) हुई थी। भगवान् आदिनाथ जी की

विधिचन्द्र नामा भले साधर्मी इक जानि। तिन सुत हीरामल्ल जो कीरतिवंत महान॥
तिनके सुत हैं लालजी परमधर्म की खानि। अधिक प्रीति हमसौं करें पूरब योग प्रधान॥
एक समय बैठे हुते लालजीत हम दाय। उन विचार मनमें कियो जा सुनि अचरज होय॥
सार्द्ध द्वीप-पाठ की भाषा सुगम सुधार। जो कीजै तौ है भली यहो सीख उरधारि॥
तब हमनैं उनसौं कही सुनौ मिल हम बात। यह कारज दुद्धर महा होय सकै क्यों भ्रात॥
फिर उन हमसौं यों कही जिन श्रुत आज्ञा लेहु। जो शुभ आवे वचनवर तो यह काज करेहु॥"

—प्रशस्ति अढ़ाई द्वीप का पाठ

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

मनोहर प्रतिमा को रथ में विराजमान कर संघ के साथ रक्खा गया था, जिससे यात्रा में जिन-दर्शन का अन्तराय न हो। पहले ही संघ खरपरी गांव में ठहरा था, जो मैनपुरीके पास है। कार्तिक वदी १२ को महदी घाट पहुंच कर उन्होंने गङ्गा पार की। कई घाटों से बहुत-सी नाव इकठी की गईं परन्तु तब भी संघ दो रोज में पार उतर पाया। इससे उसकी विशालता का पता चलता है। कार्तिक सुदी १३ को संघ रतनपुर पहुंचा, जिसे नौराही कहते थे। वहाँ से चल कर कार्तिक सुदी १४ को अयोध्या पहुंचा; जहाँ खूब धूमधाम के साथ रथयात्रा निकाली गई। रथयात्रा में बख्तधारी चपरासी—सिपाही आदि भी थे। वस्तुतः जैन रथयात्राओं के आगे शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हाथी, घोड़े, प्यादे आदि होना ही चाहिये, जैसा कि कवि ने लिखा है। पांच तीर्थङ्कर भगवान के जन्मस्थान पृथक् पृथक् थे—संघ ने उनकी वंदना की थी। पश्चात् मगसर वदी १५ को बनारस पहुंचा और भेलूपुरा के मन्दिर के निकट ठहरा। यहां भी रथ-यात्रा निकाली गयी थी और धर्मचक्र का पाठ किया गया था। वंदना करके संघ आगे चल कर पौष वदी ४ को पटना पहुंचा। वहां खूब जोर की वर्षा हुई जिसके कारण संघ एक सप्ताह तक वहां ठहरा रहा; फिर चल कर पौष शुक्ल ४ को संघ ने पावापुर की वंदना की। संघ जल-मंदिर के निकट ठहरा था और उसके पहले चौक में आदि जिनेन्द्र की प्रतिमा विराजमान करके संघ ने पूजा-भजन किया था। जल-मंदिर का कवि ने खूब ही सूक्ष्म वर्णन किया है। आगे उसी महीने की नवमी को संघ राजगृह पहुंचा और वंदना की थी। यहाँ संघ ने समोशरण पाठ विधान किया था। उपरांत माघ बदी २ को संघ नवादा पहुंचा था। वहां गौतम स्वामी की वंदना करके संघ माघ बदी १३ को पालगंज पहुंचा था। वहां राजा सुबरन सिंह जी थे। संघ उन से मिलकर आगे गया था। माघ सुदी ३ को मधुवन में डेरा दिया गया था। वहां संघ ने चार चैत्यालयों की वंदना की थी। वसंत पञ्चमी को संघ ने श्री सम्मेद-शिखरपर्वत की वंदना की थी। उसका भी पूरा विवरण कवि ने लिखा है जिससे प्रकट है कि तब बीच में नीचे तलहटी के मंदिर की वंदना भी दिगम्बर जैनी करते थे। पर्वत वंदना से लौट कर मधुवन में धर्मोत्सव मनाया गया और रथयात्रा निकाली गई, जिसमें पालगंज के राजा भी सम्मिलित हुए थे। इस प्रकार सानन्द पूजा वन्दना करके माघ सुदी पूनम को संघ ने मधुवन से प्रस्थान किया। फागुन बदी ८ को बैजनाथपुर आये। यहां शिव की वंदना करने अन्यमती लोग अधिक संख्या में आते लिखा है; परन्तु वहां भी संघ को पार्श्व भगवान् के दर्शन हुये थे। कवि कहते हैं कि:—

"पंडन मठ मंदिर मांही—प्रतिबिंब जिनेश्वर आहीं।
तिनको भी शिवजु कहै हैं—नित सेवा मांहि रहे हैं॥"

शायद अब भी यह जिनमूर्ति वहां के पंडा लोगों के पास होगी। इस प्राचीन मूर्ति का

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

पता लगाना उचित है। फाल्गुन सुदी पड़वा को संघ चंपापुर पहुंचा था। वहां की वंदना करके फाल्गुन सुदी ४ को संघ वापस हुआ और वाढ़-नामक नगर में पहुंचा। यहां पर पहले जाते हुए पटना के जैनी लोग श्रीजी-सहित आकर यात्रासंघ में मिले थे और साथ साथ वंदना कर आये थे। वह अब यहां से अपने घरों को चले गये। सचमुच उस दुष्कर काल में तीर्थ-यात्रा करना सुगम न था। पटना के श्रावकों ने इस सुयोग से लाभ उठाया। कैसा वह पुण्यमय अवसर था! उन सहधर्मी भाइयों को श्रीजी के साथ विदा करते समय रथयात्रादि उत्सव किया गया था। श्रावकों ने परस्पर वात्सल्य धर्म का परिचय दिया था—जरा विचार कीजिये उस अनूठे अवसर को—मुक्तकंठ से कौन नहीं कहता होगा तब 'धन्य-धन्य साधर्मी जन मिलन को घरी।' वहां से विदा हो संघ काशी में आकर ठहरा। नौ रोज वहां विश्राम करके चला सो महदी घाट पर उसने गङ्गा-पार किया। वैसाख वदी ७ को गङ्गाधरपुर में संघ ठहरा और वैसाख बदी १२-१३ को वापस मैनपुरी पहुंचा। कवि कहते हैं कि देश-देश के लोग सब अपने-अपने घर को वापस गये और वह यह भी बताते हैं कि उन सबका साहु धन सिंह ने ओर-छोर उपकार किया था। धन्य थे वह महानुभाव, जिन्होंने साधर्मीजनों की सेवा में अपना तन-मन धन लगाया था और उनके लिये धर्मसाधन का परम योग उस जमाने में दुर्लभ सम्मेद शिखर जैसी तीर्थराज की यात्रा का सुयोग सुलभ किया था। सहस्रकण्ठारव जिनेन्द्र के पवित्र नाम से दिशाओं को पवित्र बना रहा था। यह सुअवसर अधिकाधिक संसार में सुलभ हो, यही भावना इस "सम्मेद शिखिर यात्रा का समाचार" पढ़ने से हृदयमें जागृत होती है।

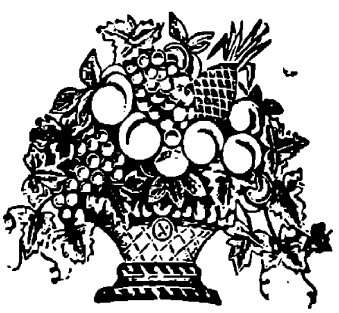

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

बंगाल में जैन धर्म

(लेखक—श्रीयुत सुरेशचन्द्र जैन, बी० ए०)

बंगाल में जैनधर्म की गति विशेष रही है। वहाँ मानभूम, सिंहभूम, वीरभूम और वर्दवान इन चारों जिलों के नामकरण भगवान् महावीर या वर्द्धमान के नाम के आधार पर ही हुए हैं। चौबीस तीर्थंकरों में से बीस ने हजारीबाग जिला के अंतर्गत पार्श्वनाथ पहाड़ के सम्मेदशिखर पर से निर्वाण प्राप्त किया है। 'आचारांग-सूत्र' से विदित है कि राढ़ देश के वज्रभूमि और सुम्भभूमि नामक प्रदेशों में विहार करते हुए भगवान् महावीर को अनेकानेक कठिनाइयां उठानी पड़ी थीं; उन्हें कठोर यंत्रणायें सहन करनी पड़ी थीं और कठिन से कठिन कार्य्य करने पड़े थे। यह प्रदेश यात्रियों के लिए दुर्गम था और मुनियों के प्रति यहाँ के निवासियोंका व्यवहार अत्यन्त ही क्रूर एवं करुणोत्पादक था। ये लोग निस्सहाय मुनियों के पीछे कुत्तों को छोड़ देते थे और इनसे अपनी रक्षा करने के हेतु असहाय मुनियों को बांस की फराठियों का सहारा लेना पड़ता था। अत एव यह ज्ञात होता है कि वर्द्धमान महावीर के समय में बंगाल में जैनधर्म की जाग्रति, प्रगति तथा उन्नति हो रही थी।

सन् ९३१ ई० पूर्व में श्रीहरिषेण ने 'वृहत्-कथा-कोष' नामक एक महान् ग्रंथ रचा था। उससे प्रकट है कि सुविख्यात जैनाचार्य एवं मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के राजगुरु श्रीभद्रबाहु जी पुंड्रवर्धन देशांतर्गत देव कोटी नगरी के रहने वाले एक ब्राह्मण के पुत्र थे। एक दिन जब भद्रबाहु अपनी बाल्यावस्था में देवकोटि के अन्य बालकों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे तब चतुर्थ श्रुतकेवली श्रीगोवर्धन ने उन्हें देखा था और उनको देखते ही उनके मन में इस बात की पूर्ण धारणा हो गई थी कि यह बालक पंचम श्रुतकेवली होगा। ऐसी धारणा मन में उत्पन्न होते ही उन्होंने श्रीभद्रबाहुजी के पिता की अनुमति से उनको तत्काल ही अपनी हिफाजत में रख लिया और कुछ समय बाद यही बालक पञ्चम श्रुतकेवली के रूप में श्रीगोवर्धनजी का उत्तराधिकारी हुआ। पुण्ड्रवर्धन ग्राम में एक निर्ग्रन्थ के दोष के कारण अट्ठारह हजार मनुष्यों की हत्या का जो वर्णन 'दिव्यावदान' नामक बौद्धग्रन्थ में किया गया है उसकी सत्यता पर विश्वास हो अथवा नहीं परन्तु उससे इतना पता तो अवश्य मिलता है कि तृतीय शताब्दी के पूर्व में उत्तरीय बंगाल जैनियों से भरा था।

'अंगुत्तरनिकाय' के सोलह महाजन पदों में जिन भिन्न-भिन्न देशों को गिनाया गया है उससे अंग और मगध की गणना पूर्वीय प्रांतों में की गई है। जैन 'भगवती-सूत्र' के भी

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

पंद्रहवे परिच्छेद में जिन सोलह देशों का वर्णन है उनमें भी अंग, बंग और लाधा (राढ़) का उल्लेख देख कर प्रत्यक्ष रूप से इस बात की अविचल धारणा होती है कि आदि काल में बंगाल के साथ जैनियों का संपर्क बौद्धों से कहीं अधिक था। 'कल्पसूत्र' में तामलित्या, कोटिवर्षीया, पौंड्रवर्धनीया और खावदोया को जैन भिक्षुकों के गोदासगण की चार शाखायें मानी गयी हैं। ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष और पुंड्रवर्धन क्रमानुसार मिदनापुर, दिनाजपुर और बोगरा जिलों में हैं और पश्चिमीय बंगाल में स्थित वर्त्तमान खवीर को प्राचीन खावाडोया माना गया है। जैन उपाङ्गों में तामलित्त और बंग आर्य्य लोगों की भूमि माने गये हैं। इस प्रकार साहित्यावलोकन से यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि महावीर के समय से जैनधर्म का प्रचार तीव्र वेग से होने लगा; जैनधर्म-वीरों की संख्या बढ़ने लगी और बंगाल के प्रत्येक भाग में जैनियों की सत्ता समूल स्थापित होने लगी। यदि 'आचाराङ्ग-सुत्त' में वर्णित जैन मुनियों पर किए गए अत्याचारों पर विश्वास किया जाय तब यह मानना ही पड़ेगा कि पूर्व काल में जैनियों को कटंकाकीर्ण पथ का पथिक बनना पड़ा। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन मुनियों को अनेकानेक कठिनाइयाँ सहन कर धर्म का प्रचार करना पड़ा था। परन्तु साथ ही साथ देश के कोने कोने में जैनधर्म का विस्तार देखते हुए यह भी मानना पड़ता है कि अन्त में सत्य की ही विजय हुई और जैनधर्म की निर्मल एवं पवित्र-पताका विधर्म्मियों के खण्डहरों-पर फहराने लगी।

यद्यपि क्रिश्चियन युग के बाद (after Christian Era) चन्द्रगुप्त अथवा खारवेल जैसे जैन-संरक्षक नृपति दीख नहीं पड़ते, तथापि लोकमत को यह धारणा है कि जैनधर्म पूर्वीय भारत से लुप्तप्राय हो गया था यह सर्वथा असंगत है। मथुरा के पुरातन शिलालेख से पता चलता है कि सम्भवतः सन् १०४ में 'रारा' के एक जैन मुनि के आग्रह पर एक जैन प्रतिमा की स्थापना हुई थी। पहाड़पुर के एक ताम्रपत्र से पता चलता है कि एक ब्राह्मण-दंपति ने 'वाट-गोहाली' के विहार में चंदनादि से जैन तीर्थंकरों की पूजा के लिए कुछ भूमि प्रदान की थी। काशी की पञ्च-स्तूप-शाखा* के निर्ग्रन्थ गुरु गुहनंदी के शिष्य के शिष्यों ने इस विहार के सभापति का आसन ग्रहण किया था। पहाड़पुर की ताम्रलिपि का अध्ययन यदि 'हयुएनचाँग' की यात्रा-संबंधी विवरण के साथ-साथ किया जाय तो पता चलेगा कि पुंड्रवर्धन, सातवीं शताब्दी तक, जैनियों का एक बृहत्, शक्तिशाली और प्रतिष्ठित केन्द्र था।

'हयुएनचाँग' ने तत्कालीन धर्मों तथा उनसे संबद्ध संस्थाओं के विषय में अपने जो मार्मिक, भावपूर्ण एवं विवेचनात्मक विचार प्रकट किए हैं वे सदा आदरणीय हैं और यदि

*श्रीजिनसेनाचार्य ने भी अपने को 'पंचस्तूपान्वयी' लिखा था और वह नंदिसंघ के आचार्य थे। संभव है कि गुहनंदि भी उसी संघ और शाखा के हों। संपादक

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

उन गूढ़ एवं प्रभावशाली विचारों के आधार पर तत्कालीन प्रचलित धर्म्मों का तुलनात्मक विश्लेषण किया जाय तो हम एक ऐसे निश्चित, अटल और अनिवार्य्य निष्कर्ष पर पहुंचेंगे जो हमारी धार्मिक प्रौढ़ता को और भी अधिक प्रौढ़, हमारे अटल विश्वास को और भी अधिक दृढ़ तथा हमारे धार्मिक दृष्टिकोण को और भी विस्तृत तथा दूरदर्शक बना देगा। किन्तु हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि अपने वृत्तांत में 'हयुएनचाँग' ने बौद्ध धर्म के अतिरिक्त और किसी भी धर्म-विशेष पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला है और निर्ग्रंथों का वर्णन तो कहीं कहीं केवल प्रसंग-वश ही आ गया है। इतने पर भी उस बौद्ध परिव्राजक ने लिखा है कि वैशाली, पुंड्रवर्धन, समतट और कलिङ्ग देशों में निर्ग्रंथों की संख्या असंख्य थी। अत एव यह प्रत्यक्ष है कि सातवीं शताब्दी में इन्हीं भू-भागों में जैनों की संख्या सब से अधिक थी। इस चीन-परिव्राजक ने भारत के और किसी भी प्रांत के निर्ग्रंथों का उल्लेख विशेष रूप से नहीं किया है। परन्तु उनके यह लिखने से कि और और प्रांतों में भिन्न—भिन्न-धर्मावलम्बी मिल-जुल कर रहते थे—यह सिद्ध होता है कि उन भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों में जैनधर्मावलम्बी भी अवश्य सम्मिलित रहते होंगे। इस विषय पर उनके मौन रहने से यह कभी भी नहीं माना जा सकता कि पूर्वीय भारत के अन्य भागों में जैनियों की कमी थी। 'हयुएनचाँग ने अपने 'राजगृह' के विवरण में जैनियों की कुछ भी चर्चा नहीं की है किन्तु 'विपुला' पहाड़ के पास उन्होंने बहुत से निर्ग्रंथों को देखा था। आज भी बहुत से दिगम्बर जैनी यहाँ आते हैं, ठहरते हैं और पूजनादि करते हैं। केवल जैन साहित्य में ही नहीं, 'राजगृह' बौद्ध साहित्य में भी विख्यात है और आज भी यह जैनियों का एक अत्यन्त ही रमणीक एवं पवित्र तीर्थ स्थान है। इस स्थान के समीप अनेक जैन प्रतिमाएं पायी जाती हैं। 'वैभार' पर्वत पर गुप्तवंश के समय की चार जैन प्रतिमाएँ हैं। ८वीं, ९मी, और १२वीं शताब्दियों की भी जैन प्रतिमायें वहाँ पर पायी जाती हैं। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि मुसलमानों के राज्यकाल में भी जैनियों ने 'राजगृह' में जैन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की थी।

७ वीं शताब्दी के बाद बंगाल में जैनधर्म की क्या दशा थी इस विषय पर हमलोग पूर्ण अंधकार में हैं। इसका विकास, इसका पतन अथवा दूसरे धर्मों के साथ इसका मिश्रित हो जाना ये सभी बातें अतीत के अन्धकार में मिश्रित हो गई हैं। इस संबंध में दो प्रतिद्वन्दी धर्मों की कहानी अत्यन्त ही रोचक है। आरंभ में भगवान् 'महावीर' और 'माखालीपुत्त गोसाल' में चाहे जिस प्रकार का व्यवहार रहा हो परंतु आगे चलकर भिन्न-भिन्न दो धर्म्मों के प्रवर्त्तक होने के कारण दोनों का पारस्परिक व्यवहार यदि घोर कठोरता और शत्रुता का न था तो इसमें भी संदेह नहीं कि इनके परस्पर के व्यवहार में मित्रता तथा सज्जनता भी न थी। यदि 'भगवती' में वर्णित 'गोसाल' और 'महावीर' के कार्य्यों पर विश्वास किया जाय तो

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

यह मानना पड़ेगा कि ये दोनों 'राधा' के एक भाग 'वज्र-भूमि' में स्थित 'पनित-भूमि' में सात वर्ष तक साथ-साथ रहे। 'राधा' में भ्रमण करते हुए 'महावीर' ने अनेक संन्यासियों को हाथ में बाँस की फराठी लिये हुए देखा था। 'पाणिनि'-द्वारा वर्णित 'मस्करिण' नामक ये सन्यासी जैन आजीविक थे।* अतएव यह पता लगता है कि 'महावीर' के समय में छठवीं शताब्दी के पूर्व में भी आजीविक लोग पश्चिम बंगाल में अपना धर्म प्रचार कर रहे थे। अशोक और दशरथ आदि मौर्य्य सम्राटों ने भी समय समय पर इन आजीविकों को इनके प्रचार-कार्य्य में सहायता दी थी और 'नागार्जुनि' एवं 'बाराबर' की गुफाओं से पता चलता है कि ईसा के ३०० वर्ष पूर्व के उत्तरीय भारत में इन आजीविकों के धर्म्मानुगामियों की कमी न थी।

'भगवती' में 'पुण्ड' देशांतर्गत 'महापौम' (महापद्म) के एक राजा का उल्लेख है। इनको आजीविकों का संरक्षक बतलाया गया है। 'पुण्ड' विन्ध्य पर्वत की तराई में बतलाया गया है। साथ ही साथ 'महापौम' की राजधानी में एक सौ सिंहद्वारों का होना कहा गया है। 'पुण्ड' के नाम से ही पता चलता है कि संभवतः यह 'पुंड्र' ही था और इसकी भौगोलिक स्थिति, जो कि 'विन्ध्य' पर्वत के पास बतलायी गयी है, नगण्य मानी जा सकती है। पुंड्रवर्द्धन अथवा आधुनिक फिरोज़ाबाद में एक निर्ग्रंथ के दोष के कारण अशोक-द्वारा १८००० आजीविकों की हत्या किये जाने के वृत्तांत की सत्यता मानी जाय चाहे नहीं परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि यहाँ भी आजीविकों का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। इन सबों से अधिक महत्त्व रखनेवाली बात यह हुई कि तत्कालीन लोगों ने आजीविकों को पहचाना ही नहीं और उन्हें ही निर्ग्रंथ समझ बैठे। उन दोनों के आचार, व्यवहार, रहन-सहन तथा धर्मकार्य्यों में इतनी समानता थी कि लोगों को एक दूसरे के पहचानने में कठिनाई होने लगी। इसी कारण हमलोग भी डाक्टर बेणीमाधव बरुआ की ही सम्मति से सहमत हैं कि 'दिव्यावदान' के संपादन के समय निर्ग्रंथों तथा आजीविकों के आचार-विचार तथा सिद्धांतों में इतनी कम असमानता थी कि उन दोनों को पृथक् पृथक् पहचान लेना एक प्रवासी बौद्ध भिक्षुक के लिये कठिन था। दक्षिण भारत के आजीविकों की गणना तो जैन-ग्रंथकारों ने बौद्ध भिक्षुकों की ही एक संप्रदाय में की है। ऐसी अवस्था मे यह समझ लेना कि 'ह्यु एनचाँग' ने अनेक आजीविकों को ही जैनी समझ लिया कुछ अत्युक्ति न होगी; वरन् स्वाभाविक ही होगा।† अधिक अध्ययन करने से पता चलता है कि

---

* आजीविक संप्रदाय जैनमत से भिन्न था, यद्यपि उसका निकास जैनमत से ही हुआ था—उसका संस्थापक एक समय जैन मुनि था।—संपादक

† बंगाल में जैनधर्म के ह्रास का एक कारण भले ही वह हो। परन्तु यह नहीं कहा जासकता कि

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

जैनियों और आजीविकों में बहुत कम भेद था। उस समय अन्य अन्य धर्मावलम्बियों का भी जोर बढ़ रहा था और इस बात की अत्यन्त आवश्यकता थी कि आजीविकों तथा जैनियों में किसी प्रकार का भेदभाव न रहे। अन्य धर्मावलम्बियों के आक्रमण को रोकने और उनका सामना करने के लिए इन दोनों संप्रदायों का परस्पर सम्मिलित हो जाना बहुत संभव था। बौद्धयतिकों के कट्टर शत्रु देवदत्त ने जो एक पृथक् संप्रदाय की स्थापना की थी वह भी सातवीं शताब्दी में बौद्धधर्म में प्रायः सम्मिलित ही हो गयी थी और एक अबौद्ध के दृष्टिकोण से देखने पर उन दोनों संप्रदायों में कुछ अन्तर न था। उसकी आँखों में तो केवल बौद्धधर्म ही बसा था। यद्यपि आज भी प्रमाणों की कमी है, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि कुछ ही समय के बाद जैनधर्म्म, बौद्ध तथा वैदिक धर्म्मों में ही अन्तर्हित हो गया था।* प्राचीनकाल में 'पहाड़पुर' का मठ जैनियों की ही संपदा थी; इनके द्वारा ही इसका निर्माण हुआ था परन्तु अन्त में यह बौद्धों के ही अन्तर्गत हो गया और उत्तर बंगाल में 'सोमपुर' के बौद्ध विहार के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

'ह्यु एनचाँग' के अपनी यात्रा का वर्णन लिखने के बाद से जैन तीर्थङ्करों की कुछ प्रतिमाओं के अतिरिक्त जैनियों के अस्तित्व का यहाँ कुछ भी पता नहीं चलता। श्रीराखालदास बनर्जी के मतानुसार बंगाल में केवल चार ही जैन प्रतिमायें हैं। किंतु उनका यह मत वर्तमान लोकमत के विरुद्ध है। क्योंकि श्रीयुत के० डी० मित्रा ने।'सुन्दरवन' के एक भाग के खोज (Exploration) द्वारा जो ऐतिहासिक अन्वेषण किये हैं उनसे 'सुन्दरवन' के केवल उसी भाग में ही दस जैन प्रतिमाओं का और भी पता चला है। 'सुन्दरवन' के केवल एक भू-भाग में एक साथ दस प्रतिमाओं के मिलने को यदि 'वैरेकपुर' में प्राप्त ताम्रपत्रों के प्रमाणों के साथ मिलाकर गूढ़ विचार किया जाय तो पता चलेगा कि 'ह्यु एनचाँग' ने जिस 'समतट' नगरी में निर्ग्रंथों को अधिकाधिक संख्या में देखा था उसमें उत्तर-पश्चिमीय सुन्दरवन भी सम्मिलित था। बाँकुरा और बीरभूम जिलों में अभी भी प्रायः जैन-प्रतिमाओं के मिलने का समाचार पाया जाता है। श्रीराखालदास बनर्जी ने भी इस क्षेत्र को तत्कालीन जैनियों का एक प्रधान केन्द्र बताया है। बंगाल में प्राप्त इन बीस प्रतिमाओं में से केवल एक श्वेतांबरी प्रतिमा है। इससे यह पता चलता है कि वहाँ दिगंबरों की संख्या श्वेतांबरों से बहुत अधिक थी। वहां श्रीऋषभनाथ जी या श्रीआदिनाथ जी, श्रीनेमिनाथ जी, श्रीशांतिनाथ जी

सब जैनी वैष्णव या बौद्ध हो गये थे। बंगाल के सराक लोग आज तक प्राचीन जैनों के स्मारकरूप से हैं। —संपादक

* ह्यु एन चांग ने स्पष्ट शब्दों में उन साधुओं को निर्ग्रन्थ लिखा है, इसलिये उन्हें आजीविक अनुमान करना ग़लत है। —संपादक

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

तथा श्रीपार्श्वनाथजी की प्रतिमायें पायी गयी हैं और इनमें श्रीपार्श्वनाथ जी की प्रतिमा सब से अधिक लोकप्रिय है। मूर्तियों के आकार-प्रकार, उनमें अङ्कित चिह्नों, उनके पार्श्ववर्ती शिला-लेखों तथा उनके नग्नत्व से वे जैनियों की ही प्रमाणित मूर्तियाँ मानी जाती हैं।

मूर्ति-निर्माणकला के अध्ययन से पता चलता है कि बंगाल की सभी जैनमूर्तियाँ 'पाल' राज्यवंश के समय की हैं। तुलनात्मक रूप से विचार करने से पता चलता है कि उस काल की जितनी धार्मिक मूर्तियाँ पाई गयी हैं उनमें जैन प्रतिमाओं की संख्या बहुत ही कम है और यही जैनियों के अल्प संख्या में होने का प्रमाण है।* इस में अब कुछ भी संदेह नहीं रह गया है कि 'पाल' राज्यवंश के शासनकाल के आरंभ से ही जैनियों की संख्या दिन प्रतिदिन क्षीण होती गई और उसी समय से बंगाल में जैनधर्म की अवनति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। तब से आजतक बंगाल में जैनधर्म की अवनति ही होती आई है और उसके प्रमाण- स्वरूप आज का बंगाल और उसका जैनधर्म सब के समक्ष उपस्थित है।†

---

* अभी पूरी खोज हो कहां हुई है? फिर भी बंगाल के भिन्न-भिन्न जिलों के गजेटियरों से स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थान पर अनेक प्राचीन जैन चिह्न विद्यमान हैं। —संपादक

† 'इण्डियन कल्चर' जनवरी १९३७ में प्रकाशित 'Jainism in Bengal' का रूपान्तर। —लेखक

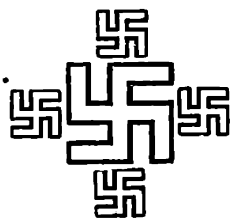

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

ऐतिहासिक प्रसंग

(सं०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

7TH CENTURY A. D.

(१) महेन्द्र वर्मा, (पल्लव वंशीय) जो संभवतः जैनी था, ई० सन् ६१० में हुआ। उसने शैव होने पर साउथ आर्काट के अन्तर्गत पाटलीपुत्र (Patliputtiram) के एक बड़े जैनमठ (the large Jain monastry) को नष्ट किया।

Ref. Smith, Early history of India P. 472.

(२) चीन का बुद्धयात्री ह्वेनसंग (Hiuen Tsang) ई० सन् ६३० में भारतवर्ष में आया और ६४४ तक रहा। उसने जैनियों के सम्बन्ध में बहुत सी बातें लिखा हैं और सिंहापुर Singhapur (murti in the salt region) में एक श्वेताम्बर मंदिर का उल्लेख एवं कलिङ्गदेश में जैनधर्म के प्रचार को सूचित किया है और साथ ही साथ दक्षिण भारत में हर जगह दिगंबर-सम्प्रदाय के अनुयायियों से मिला है।

Ref. Beal, Siyuki, I, 144 etc. vol. II P. 205, etc. V. F. J. IV, P. 80

(३) ऐहोले (Aihole) का शिलालेख शक संवत् ५५६ में लिखा गया, जिसको जैनकवि रविकीर्ति ने रचा। उसमें रविकीर्ति ने कालिदास और भारवि की बराबरी का दावा किया है। यह शिलालेख जैन मंदिर के बनने के संबंध का है। पश्चिमी चालुक्य पुलकेशी द्वितीय सत्याश्रव के राजत्वकाल में लिखा गया।

Ref. Ep. Ind. VI, P. 4.

(४) 655 A. D. Terrible persecution of the Jains in the Deccan by Kuna, Sund, or nedumaram Pāndya a Jain convert to Sāmism : assigned to about this period (655A.D.) by the scholars.

Ref. smith, Early History of India, (1914) P. 454—5. cp. Ind. Ant. II, P.

(५) वसन्तगढ़ से निकली हुई दो पीतल की जैनमूर्तियाँ इस समय पींडवाडा (सिरोही) के जैनमंदिर में हैं, जिन पर वि० सं० ७४४ के लेख हैं।

Ref. ओझा० सिरोही का इतिहास पृ० ३१-३२

8TH CENTURY A. D.

(६) Śaka Era 656 (734 A.D.) Inscription of Vikramaditya II, Western Chalukya, mentioning the restoration of the temples of Pulikere and conveying gifts, (apocryphal). Ref. Guerinot no. 114.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

(७) शांतरक्षित नाम के बौद्ध नैयायिक ने अपने तत्वसंग्रह-कारिका नामक ग्रंथ में (749 A. D.) दिगंबर (जैन) के जीव-संबंधी सिद्धांत की आलोचना की है।

Ref. विद्याभूषण, इण्डियन लाजिक P. 125.

(८) शक सं० ६९८ (776 A. D.) में पश्चिमी गंगवंशीय राजा श्रीपुरुष ने श्रीपुर के जैनमंदिर को जो दान दिया उस के प्लेट (पत्र) लिखे गये।

Ref. Guerinot no. 121.

(९) ई० सन ७८४ में वत्सराज (Vatsarāja) प्रतिहार कन्नौज में हुआ। वि० सं० १०१३ के एक शिलालेख में लिखा है कि उसने ओसिआ (Osia) में एक जिन-मंदिर बनवाया। Ref. Arch. Surv. Ind. Annual Rep. 1906–7, pp. 209, 42.

(१०) शक संवत् ७१९ (797 A. D.) में श्रीविजय ने, जो कि पश्चिमी गंग वंशीय मारसिंह का जागीरदार (feudatory) था, एक जैनमंदिर बनवाया।

Ref. Guerinot no. 122.

9TH CENTURY A. D.

(११) शक संवत् ७३५ (812 A. D.) में गंगवंशीय राजा 'चाकिराज' की प्रार्थना (विज्ञप्ति) पर राष्ट्रकूट वंशोद्भव द्वितीय प्रभूतवष, तृतीय गोविन्द ने एक गाँव विजयकीर्ति मुनि के शिष्य अर्ककीर्ति को जिनेन्द्र मंदिर के लिये दिया। यह मुनि यापनीय नन्दिसंघ के पुन्नाग-वृक्षमूल गण के थे।

दानपत्र का नाम (Kaḍaba, maisur plates) Ref. Ind. Ant. XII, P. 13. Epi. Ind. IV, P. 340.

(प्राचीनलेखमाला प्रथम भाग, पृष्ठ ५१—५२)

(१२) शक संवत् ७४३ में सूरत का दानपत्र लिखा गया, जिस में गुजरात के राष्ट्रकूटवंशी ककराज प्रथम ने कुछ भूमि का नागप्रिका nagaprika (नवसारी Navsari) के जैनमंदिर को दान दिया है।

Ref. Bom. Gaz. I, I, (Hist. of Guz. J. P. 125)

(१३) शक सं० ७८२ (860 A. D.) में कोन्नूर (Konnur) का शिलालेख लिखा गया। जिस में राष्ट्रकूटवंशी महाराजाधिराज अमोघवर्ष प्रथम की तरफ़ से देवेन्द्र नाम के दिगंबर जैन को एक गाँव दान किया गया (apocryphal) Ref. Ep. Ind. VI, P. 29. Imperial Gazetteer of India, II. P. 9 f.

(१४) घाटियाला जैन प्राकृत शिलालेख—समय वि० सं० ९१८ (861 A. D.) पडिहार राजा कक्कुक ने एक जैनमंदिर बनवाया और उसे धनेश्वर गच्छ को दे दिया।

Ref. Ramkarana, J. S. S. Rep. P. 1.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

(१५) A. Vir. 1400 Jeṣṭhbhuti : disappearance of Kalpavyavahara-sutra (कल्पव्यवहारसूत्र)। Ref. P. R. III app. P. 22; IV, Ind. P. XLVII.

(१६) Vik. Sam. 919 Deogaḍh pillar inscription of Bhojdeva of Kanouj. It records that in the reign of Bhojdeva while Luachchha-gira was governed by the great feudatory Vishnuram, the pillar which contains the inscription was set-up near the temple of Shāntinath at Luachchhagiri (Deogaḍh) by Deva, a pupil of the Acharya Kamaldeva.

Ref. Ep. Ind. Vol. IV. P. 309—10.

(१७) सौंदत्ति (Saundatti) का शिलालेख—समय शक सं० ७९७। इसमें राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय के मातहत शासक (Governor) पृथ्वीराम ने, जो सौंदत्ति और वेलगाम का शासक था, कुछ भूमि एक जैनमंदिर को दान की।

Ref. Ep. Ind. app. No. 79. Guerinot—130.

(१८) शक सं० ८०९ (887 A. D.) में पश्चिमी गंगवंशीय सत्यवाक्य कोंगुनी वर्मन (Koṅguni varman) की ओर से एक दान (gift) सर्वनन्दी को दिया गया।

Ref. Guerinot, D' Epig. Jain, no. 131.

(१९) बिलियूर का शिलालेख (Biluir stone inscription) समय शक संवत् ८०९ (888 A. D.) है। सत्यवाक्य कोंगुनी वर्मन (पश्चिमी गंगराचमल्ल प्रथम ?) ने बिलियूर के १२ छोटे गाँव (hamlets) शिवनन्दि सिद्धांत भट्टारक के शिष्य सर्वनंदी को पेन्नेकडंग (Penneka ḍaṅga) के 'सत्यवाक्य जिनमंदिर' के लिये दिये। Ref. Ep. Car. I. Coorg Inscriptions. (ed. 1914) no. 2. Introd. P. 8.

(२०) विक्रम सं० ९५१ (895 A. D.) में रामसेन के शिष्य भट्टारक देवसेन का जन्म हुआ।

Ref. under 934. A. D. (P. R. IV. Index.)

(२१) शक संवत् ८१५ (ई० ८९२) निधियएण और चेदियएण नाम के दो वणिक् पुत्रों (sons of a merchant from Śrimaṅgal) ने तगडूरु (धर्मपुरी) में एक जनमंदिर बनवाया। इन में से पहले को राजा से मूलपल्लि नाम का गाँव मिला, जिसे फिर उसने विनयसेन सिद्धांत-भट्टारक के शिष्य कनकसेन सिद्धांत-भट्टारक को मंदिर की सुव्यवस्था (up-keep) के लिये दिया। ये भट्टारक पोगरीयगण, सेनान्वय और मूलसंघ के थे।

Ref. Ep. Ind. X, 57, 65.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

10TH CENTURY A. D.

(२२) शक सं० ८२४ (902 A. D.) में आदिपम्प या हम्प का जन्म हुआ, जो दि० कर्णाटक कवि था।

Ref. J. R. A. (N. S.) XIV, 19.

(२३) श्रीविजय दण्डनायक, जिन्हें अरिविनगोज और अनुपम कवि भी कहते हैं, प्रायः ई० सन् ९१५ के लगभग हुए हैं। दानवुल पाडुस्तंभ शिलालेख में वे राजा इन्द्र (पानरेंदु) के, जो कि राष्ट्रकूट नित्यवर्ष इन्द्रतृतीय जाना गया है (identified with the Rashtrakuta...) अधीन के (subordinate) बतलाये गये हैं। गंगमंत्री चामुण्डराय की तरह, जो पश्चिमीया गंगसम्राट् मारसिंह द्वितीय और राचमल्ल द्वितीय का सेवक और जैन-साहित्य तथा धर्म का बहुत बड़ा संरक्षक था। श्रीविजयशास्त्रविद्या के समान अस्त्र (युद्ध) विद्या में भी अद्वितीय था। साथ ही जैनधर्म का संरक्षक था और उनने अन्त में मोक्षप्राप्ति के लिये, एक पवित्र जैन के सदृश, संसार का त्याग किया।

Ref. Ep. Ind. X, 149—50.

(२४) वि० सं० ९७३ (917 A.D.) में राष्ट्रकूटवंशी राजा विदग्ध हुआ। अपने धर्मगुरु वासुदेवसूरि (बलभद्र) के उपदेश से उसने हस्तिकुण्डिका (हाथुंडी) में एक जैनमंदिर बनवाया। राजा ने अपने को सोने से तौला था जिसका दो तिहाई भाग 'जिन' को और शेष (⅓) जैनगुरु (वासुदेव सूरि) को दिया। उस ने मंदिर और गुरु को और भी दान वि० सं० ९७३ में दिये थे। Ref. Ep. Ind. X, 17—23.

(२५) वि० सं० ९९६ (940 A. D.) में 'मम्मट' राष्ट्रकूट ने अपने पिता विदग्धराज के दिये हुए दानपत्र को फिर से हस्तिकुण्डिका जैनमंदिर के हक़ में नया किया (Renewed).

Ref. Ep. Ind. X., 20.

(२६) वि० सं० १००८ (944 A. D.) में शालास्थिति का प्रारंभ हुआ। अर्थात् श्वेतांबर साधुओं की मंदिरों में रहने की प्रवृत्ति के स्थान में उपाश्रयों में रहने की धीरे धीरे प्रवृत्ति प्रारंभ हुई। Approximate date of the great Swetambar awakening.

Ref. B. R. 1883—4, P. 323.

(२७) शक संवत् ८६७ शुक्रवार के दिन (5th December, 945 A. D.) पूर्वीय चालुक्य अम्मा द्वितीय या विजयादित्य षष्ट का, जो कि चालुक्य भीम द्वितीय वेंगी के राजा का पुत्र और उत्तराधिकारी था, और जिसने ईस्वी सन् ९७० तक राज्य किया, दबार (coronation) हुआ। यह राजा जैनियों का संरक्षक था। महिला 'चामकाम्ब' के कहने पर (at the instance of), जो पट्टवर्धक घराने की थी, उस (राजा) ने एक गाँव

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

अर्हनन्दी को (अर्हनन्दी सकलचंद्र सिद्धान्त के शिष्य अप्पपोटि का शिष्य था), जो कि अड्डकलि गच्छ और बलहारि गण का था, सर्वलोकाश्रय जिन-भवन के हितार्थ दान किया था (Kaluchumbarru grant), उसके फौजी जनरल दुर्गराज (कटकाधिपति विजयादित्य के पुत्र) ने" Whose sword always served only for the protection of the fortune of the chalukyas and whose renowned family served for the support of the excellent great country called Vengi" धर्मपुरी के निकट कटकाभरण नाम का जिनालय बनाया और उसका अधिकार श्रीमन्दिरदेव (Srimandira-deva) को, जो कि 'दिवाकर' का (जो कि नन्दिगच्छ कोटिडुंव (?) गण और यापनीय संघ के जिननन्दि का शिष्य था) शिष्य था, दिया। मलियापूंडि का दानपत्र (grant) एक गाँव के दान का उल्लेख करता है जो अम्मा द्वितीय ने इस जिनमंदिर के वास्ते दिया था।

Ref. D. C. 90. Ep. Ind. VII, 179, Ibid, IX, 49—50.

(२८) 949 A.D. War between the Rástrakuts and cholas. Hostility between the rival religious, Jainism and Hinduism in the Deccan leads to the introduction of much bitterness into the wars of this period.

Ref. Smith Early History of India (1914) P. 429.

(२९) विक्रम सं० १०११ (२ अप्रैल दिन सोमवार में खजराहाँ (रियासत छतरपुर) का शिलालेख लिखा गया। (it records a number of gifts by Pahilla·····) इस लेख में पाहिल·····के द्वारा, "who is held in honor" by King Dhanga Chandella जिननाथ के मंदिर के लिये (in favour of the temple of Jinanáth) दिये हुए अनेक दानों का उल्लेख है।

Ref. Ep. Ind. I. 135—6.

(३०) वि० सं० १०१३ (956 A. D.) में माधव के पुत्र महेन्द्रचन्द्र ने, जो संभवतः ग्वालियर का राजा था, एक जैनमूर्ति सुहम्य Suhamya (जो ग्वालियर के निकट है) में अर्पण की।

Ref. Jr. Asiatic Soc. Beng. XXXI, P. 399.

(३१) विक्रम संवत् १०३५ (977 A. D.)। सुहम्य (Suhamya) की जैनमूर्ति पर एक शिलालेख है जो वज्रदमन कच्छपघाट के समय का है।

Ref. J.r. Asia. Soc. Beng. XXXI, P. 393, 401.

(३२) शक संवत् ९०० में चामुण्डराज (मंत्री पश्चिमी गंगराज राचमल्ल) ने अपना पुराण, समाप्त किया। Ref. Ind. ant. XII. 21. Inscrip. at Sr. Bel. no. 75, 76, 77 85 and pp. 22, 25, 33, 34.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

(३३) शक सं० ८९९ (978 A. D.) में पेग्गूर का शिलालेख लिखा गया। इसमें रक्कस ने, जो कि गंगवंशी राचमल्ल द्वितीय का छोटा भाई और वेड्डोरेगेरे (Beddoregare) का शासक (governor सूबादार) था, श्रवणबेल्गोल के अनन्तवीर्य को, जो कि पण्डित गुणसेन भट्टारक का शिष्य था, एक दान दिया।

Ref. Ep. Car. I, Coorg Inscriptions (ed. 1914) no. 4. Rice, Mysore and Coorg from inscriptions, P. 47.

(३४) राष्ट्रकूटवंशी कृष्णराज तृतीय का पौत्र इन्द्रराज चतुर्थ, श्रवणबेल्गोल में शक संवत् ९०४ (सोमवार के दिन २० मार्च) को मरा। Ref. Inscrip. at Sr. Bel. no. 57. p. 53. Ind. ant. XXIII. p. 124, no. 64.

(३५) वि० सं० १०५३ (997 A. D.) में रविवार (२४ जनवरी) के दिन हस्तिकुंडिका का जैनमंदिर (जिसे राष्ट्रकूटवंशी विदग्धराज ने बनाया था) बहाल किया गया या मरम्मत की गयी (restored)। वासुदेव सूरि के शिष्य शान्तिभद्र सूरि ने वहाँ एक ऋषभदेव की मूर्ति स्थापित की। इस घटना की स्मृति में सूराचार्य ने एक प्रशस्ति रची।

Ref. Ep. Ind. X, P. 17 f.

(३६) 1000—1200. A. D. Prevalence of Jainism as the chief form of morship among the highest classes in central India.

Ref, Imp. Gazet. Ind. IX, p. 353.

(३७) लघुसमंतभद्र, जिसने अष्टसहस्री पर एक टीका लिखी है, ईस्वी सन् १००० के लगभग की है। (श्वे०) अभयदेव सूरि का भी यही समय है।

Ref Vidyabhooshan Indian Logic pp. 36—37. K. J. O. Tank's Dic. I, P. I. P. R., V pp. 216—19.

11TH CENTURY A. D.

(३८) ईसवी सन् १००४ में, राजेन्द्रचोल के आधिपत्य में चोलों की विजयों द्वारा पश्चिमी गंगवंश के राज्य का पतन हुआ। इस राजकीय परिवर्तन से, जैनधर्म को मैसूर प्रांत में जो राजधर्म (s. r.) का स्थान प्राप्त था वह विरुद्धता में परिणत हो गया (adversely affected)।

Ref. Rice, Mysore and Coorg from Inscriptions, pp. 48, 203.

(३९) वीरभद्र ने वि० सं० १०७८ में 'आराधना-पताका' बना कर समाप्त की।

Ref. I. G. 64.

(४०) मथुरा से प्राप्त हुई एक जैनमूर्ति पर वि० सं० १०८० का लेख है।

Ref., Ep. Ind. II; p. 211

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

(४१ बुद्धिसागर ने जो कि वर्धमान और जिनेश्वर-द्वारा अनुगृहीत था (the favoured one of) 'शब्दलक्ष्य-लक्षण' नाम का एक व्याकरण वि० सं० १०८० में बनाया, जब कि वह जवालीपुर (जालोर मारवाड़) में था।

Ref. B. R. 1904—5 and 1905—6 p. 25, 77, Tank's Dic. p. 5.

(४२) तिरुमलइ गिरि शिलालेख(समय 1024 A. D.) है। यह चोल राजा के सम्बन्ध में केसरी वर्मन अपर नाम (alias) राजेन्द्र चोल देव प्रथम के राज्य के १३वें वर्ष का लिखा हुआ लेख है। राजेन्द्र चोलदेव ई० सन् १०१२ में राज्यासन पर बैठे (और उसने तिरुमलइ गिरि के, जो कि उत्तर आर्काट जिले में पोलूर के निकट है, जैनमंदिर के दीपक और पूजा के लिये कुछ रुपये का दानपत्र लिखा) and records a gift of money for a lamp and for offerings to the Jain Temple on the hill of Tirumalai (near Polur in the north Arcot district) by Chamundappai the wife of the merchant Nannappaya of Malliyur in Karaivali, a subdivision of Perumban appadi. The temple was called Sri-Kundavi-Jinalaya. This name suggests that the shriue owed its foundation to kundvai the daughter of Parantak II, elder sister of Rajaraja I (and consequently the paternal aunt of Rajendra chola I) and wife of Vallava raiyar Vandyadevar.

Ref. Ep. Ind. IX p. 230—3

(४३) वि० सं० १०९२ में वर्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि (श्वे०) ने (वृह० ख० पट्टावली) शीलावती कथा आशापल्ली में बनाई।

Ref. B. R. 1882—3., p. 46.

(४४) Saka 970. Balagamve inscription registering a Jain benefaction by Chavundaraya, Kadamba faudatory of Banvasi under the Western Chalukya, Somesvar I., of Kalyan.

(४५) ई० सन् १०५० के लगभग गुणसेन ने धर्म के तौर पर नागकूप नाम का कुआँ मुल्लूर ग्राम के वास्ते खुदवाया।

Ref. Ep. Car. loc. cit., no. 42.

(४६) वि० सं० ११०९ में जीरापल्ली तीर्थ की नींव पड़ी (Jirapalli Tirth founded)

Ref, B. R. 1883—4 322.

(४७) शक सं० ९७६ (1054 A. D.) में होनवाड संस्कृत और कन्नड़ शिलालेख लिखा गया। इस शिलालेख में, जो पश्चिमी चालुक्य (सोमेश्वर प्रथम) त्रैलोक्यमल्ल के राज्यकाल से संबंध रखता है, उस दान का वर्णन है, जो रानी केतल देवी की प्रार्थना पर किया गया था। इस शिलालेख में मूलसंघ, सेनगण और पोगारि गच्छ का उल्लेख किया

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

गया है। ब्रह्मसेन, उस का शिष्य, आर्यसेन, उसका शिष्य महासेन और उसका शिष्य चाकिराज, जो कि केतल देवी का एक कर्मचारी (officer) था।

Ref. Ind. ant. XIX, p. XIX, p. 272.

(४८) खजराहाँ की एक जैनमूर्ति पर वि० सं० १२१२ का लेख है। उसमें शिल्पकार का नाम कुमारसिंह दिया गया है।

Ref. Cunningham archer. Survey India XXI, page 68.

(४९) सं० ९८० (1058 A. D) में मुल्लुर का शिलालेख लिखा गया। इसके द्वारा राजेन्द्र कोंगाल्व ने उस बस्ति के लिये एक दान किया जो कि उसके पिता ने बनवाई थी। 'राजाधिराज' की माता, पोचब्बरसि ने गुणसेन को दान दिया। Vide 1064, A. D.

Ref. Ep. Car. I, Coorg Inscrip. (ed. 1914), no. 35.

(५०) शक सं० ९८६ (1064 A. D.) में मुल्लूर का शिलालेख लिखा गया, जिसमें गुणसेन की मृत्यु का उल्लेख है जो कि एक प्रधान नैयायिक और वैयाकरण थे। गुणसेन नंदिसंघ, द्रविलगण और अरुङ्गल आम्नाय के पुष्पसेन का शिष्य था।

Rep. Ep. Car. I, Coorg Inscriptions (ed. 1914) no. 34.

(५१) अन्नीगेरि के जैनमंदिर जो कि मैसूर के अन्यान्य जैनमंदिरों के साथ राजेन्द्रदेव चोल के द्वारा जला दिये गये थे, जिनका एक स्थानीय शासक के द्वारा ई० सन १०७० के करीब जीर्णोद्धार किया गया (are restored).

Ref. Fergusson History of Indian and Eastern architecture (1910 A. D.) Vol. II., p. 23.

(५२) राजपूताना म्यूजियम अजमेर में एक खड़ी दिगंबर जैनमूर्ति पर वि० सं० ११३० (1074 A. D.) का लेख है, दूसरी पर ११३७।

Ref. Prog. Rep. of arch. Surv. of India west. cir. for 1915—(P. 35)

(५३) गुडिगेरे का टूटा कन्नड जैनशिलालेख का समय शक ९९८ (1076 A. D.) है। इस में आचार्य्य श्रीनंदी पण्डित के दानों का वर्णन है। चालुक्य-चक्रवर्त्ती विजयादित्य वल्लभ (*i e.* probably Vijayaditya west Chalukya) की छोटी बहन कुंकुम महादेवी ने पहले एक जैनमंदिर बनवाया था, ऐसा इस शिलालेख में उल्लेख है। साथ ही भुवनैकमल्ल—शांतिनाथ देव का भी उल्लेख है, अर्थात् शांतिनाथ एक जैनमंदिर या बिम्ब का जो पश्चिमी चालुक्य सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल के द्वारा बनाया गया अथवा स्थापित किया गया था।

Ref. Ind. ant. XVIII, p. 38.

(५४) विक्रमसिंह कच्छपघाट का शिलालेख का समय वि० सं० ११४५ है। इस में उन दानों का वर्णन है जो कि दूबकुंड (Dubkunda) के नये बने हुए जैनमंदिर के लिये दिये गये।

Ref. Ep. Ind. II, 232, f.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

भट्टाकलंक का समय

[ले० श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, सं० जैनदर्शन]

जैन सिद्धान्त-भास्कर, भाग ३, किरण ४ में, उसके अन्यतम संपादक बाबू कामता प्रसाद जी का 'श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इस लेख में लेखक महोदय ने अकलङ्कदेव के बारे में उपलब्ध सामग्री का अच्छा सङ्कलन किया है, किन्तु फिर भी उसमें कुछ ऐसे स्थल हैं जो ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से स्खलित कहे जा सकते हैं ; अतः उन पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

जैन-साहित्य में अकलङ्कदेव का वही स्थान है, जो बौद्ध-साहित्य में धर्मकीर्ति का है। उन्होंने जैनन्याय का कितना और कैसा विकास किया तथा उसे कौन कौन सी अमूल्य निधियां भेंट कीं ? यह बतलाने के लिये एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में यहां तो मैं केवल इतना ही कह देना चाहता हूं कि यदि जैनन्याय-रूपी आकाश में अकलङ्क-रूपी सूर्य्य का उदय न हुआ होता तो न मालूम जैनन्याय और उसके अनुसर्ताओं की क्या दुर्गति हुई होती ? किन्तु ऐसे महान् वाग्मी और प्रबल तार्किक की जीवन-घटनाएं तथा सुनिश्चित समय जानने की सामग्री हमारे पास नहीं है। पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी के निर्मित कथा-कोशों में उनकी कथा मिलती है। कथाओं में अकलङ्क को मान्यखेट के राजा शुभतुङ्ग के मन्त्री का पुत्र बतलाया है। और हिमशीतल राजा की सभा में उनका बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ करनेका भी उल्लेख किया है। अन्तिम बात का समर्थन श्रवणबेल्गोल की मल्लिषेण-प्रशस्ति से भी होता है और उसी प्रशस्ति में, राजा साहसतुङ्ग की सभा में अकलङ्क के जाने का भी उल्लेख मिलता है। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण * ने राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्णराज प्रथम को साहसतुङ्ग या शुभतुङ्ग ठहराकर अकलङ्क को उनका समकालीन माना है और इसी मत को स्वीकार करते हुए श्रीयुत प्रेमीजी ने अकलङ्क का समय वि० सं० ८१० से ८३२ (ई० ७५३ से ७७५) तक बतलाया है ‡। किन्तु डाक्टर पाठक ने राष्ट्रकूट राजा साहसतुङ्ग दन्तिदुर्ग के समय में अकलङ्क का होना स्वीकार किया है। बा० कामताप्रसादजी ने प्रेमीजी के उक्त मत का उल्लेख करके उसमें आपत्ति की है और दन्तिदुर्ग को साहसतुङ्ग ठहरा

---

* हिस्टरी ऑफ दि मिडियावल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक।

‡ जैनहितैषी, भाग ११, पृ० ४२८]

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

कर उसके राज्यकाल (वि० सं० ८०१ से ८१६ तक=ई० स० ७४४ से ७५९) में अकलङ्क को जीवित मानना ठीक बतलाया है तथा निष्कर्ष निकालते हुए अकलङ्कदेव का कार्य-काल संभवतः वि० सं० ८०१ से ८३९ तक (ई०७४४ से ७८२) बतलाया है।

अपने मत के समर्थन में लेखक ने उक्त हेतु के अतिरिक्त अन्य ६ हेतु और भी सङ्कलित किये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

२ स्वर्गीय भण्डारकर महोदय ने लिखा है कि जिनसेन ने अपने हरिवंश-पुराण (श० ७०५=ई० ७८३) में सिद्धसेन, अकलङ्क आदि का उल्लेख किया है। अतः उससे पहले अकलङ्कदेव विद्यमान थे।

३ हरिवंशपुराण में आचार्य कुमारसेन का उल्लेख है और इन्हीं कुमारसेन का उल्लेख विद्यानन्द स्वामीने अपनी अष्टसहस्री—जो कि अकलङ्क की अष्टशती का ही भाष्य है—के अन्तमें किया है। अतः इससे भी हमारे निष्कर्ष का समर्थन होता है।

४ विद्वानों का कथन है कि अकलङ्कदेव ने बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के मत का खण्डन अपने ग्रन्थों में किया है। धर्मकीर्ति का समय ईस्वी सातवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना जाता है। अतः इसके बाद आठवीं शताब्दी में अकलङ्कदेव का अस्तित्व मानना उचित है।

५ स्व० प्रो० पाठक ने प्रकट किया था कि कुमारिलभट्ट ने अपने 'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थ में अकलङ्क देव के 'अष्टशती' नामक ग्रन्थ पर कुछ कटाक्ष किये हैं, तथा कुमारिल अकलङ्क के कुछ समय बाद तक जीवित रहा था। कुमारिल का समय वि० सं० ७५७ से ८१७ तक (ई० स० ७०० से ७६०) निश्चित है। अत एव अकलङ्क का समय भी यही हो सकता है।

६ अकलंकचरित नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कथन है कि शक सं० ७०० में अकलंकयति का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ था। इससे सिद्ध है कि शक सं० ७०० (ई० ७७८) में अकलंक विद्यमान थे।

७ प्रो० पाठक, डा० विद्याभूषण, प्रो० राईस आदि विद्वानों ने अकलंक को ईस्वी आठवीं शताब्दी का विद्वान् निश्चित किया है।

आलोचना

सबसे पहले लेखक के प्रथम हेतु पर विचार न करके हम उसके सहायक हेतुओं पर विचार करेंगे, क्योंकि सहायक हेतुओं के बाधित होने पर प्रथम हेतु स्वयं ही निस्सार प्रतीत होने लगेगा।

२ अकलंक, जिनसेन के हरिवंशपुराण के पूर्ववर्ती हैं, इसमें तो किसी को विवाद नहीं

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

जान पड़ता। किन्तु, जैसा कि लेखक महोदय ने लिखा है, यद्यपि डा० भण्डारकर ने अपनी रिपोर्ट में हरिवंशपुराण में अकलङ्कदेव के स्मरण किये जाने का उल्लेख किया है, तथापि हमें उस ग्रन्थ में ऐसा कोई स्थल न मिल सका। बा० कामताप्रसाद जी ने ऐसे दो स्थल खोज निकाले हैं, वे स्थल हैं हरिवंश-पुराण के पहले सर्ग का ३१वां और ३९वाँ श्लोक। लेखक का कहना है कि इन से प्रकरान्तर-रूप में अकलंक का उल्लेख हुआ कहा जा सकता है। किन्तु यह लेखक का भ्रम है। असल में ३१वें श्लोक* में ग्रन्थकार ने 'देव' शब्द से अकलंकदेव का स्मरण नहीं किया है, किन्तु जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता प्रसिद्ध शाब्दिक देवनन्दि का—जिनका दूसरा नाम पूज्यपाद भी था —स्मरण किया है।

आदिपुराणकार† तथा वादिराज‡ ने भी—जिन्होंने अकलङ्कदेव का भी स्मरण किया है—इन्हें इसी संक्षिप्त नाम से स्मरण किया है। अतः यह 'देव' शब्द अकलङ्क का संक्षिप्त नाम नहीं है किन्तु देवनन्दि' का संक्षिप्त नाम है। ३९ वें श्लोक में श्रीवीरसेनाचार्य की कीर्ति को 'अकलङ्क' कहा गया है। किन्तु केवल 'अकलङ्क' विशेषण से अकलङ्कदेव जैसे प्रखर तार्किक और समर्थ विद्वान् का स्मरण किये जाने की कल्पना हृदय को स्पर्श नहीं करती। पर जब हरिवंश-पुराणकार ने ऐसे विद्वानों का स्मरण किया है; जिन्होंने अपनी रचनाओं में अकलङ्क का न केवल स्मरण किया है किन्तु उनके राजवार्तिक से उद्धरण तक दिये हैं, तब उनके द्वारा अकलङ्क का स्मरण न किया जाना अचरज की बात अवश्य है। अस्तु, यदि हो सका तो इस सम्बन्ध में फिर कभी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

३ तीसरे हेतु से भी केवल इतना ही सिद्ध होता है कि अकलङ्क हरिवंशपुराण की रचना से पहले हुए हैं। और इस में किसी को भी विवाद नहीं है,यह हम पहले ही लिख चुके हैं।

४ चौथे हेतु में किसी को विवाद नहीं है क्योंकि अकलङ्क के ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने न केवल धर्मकीर्ति का खण्डन ही किया है किन्तु उसके ग्रन्थों से उद्धरण तक दिये हैं। उदाहरण के लिये—लघीयस्त्रय की 'स्वसंवेद्यं विकल्पानाम्' आदि कारिका की स्वोपज्ञ-विवृति में "सर्वतः संहृत्य चिन्तस्तिमितान्तरात्मना" आदि आता है। यह धर्मकीर्ति के प्रमाण-

---

* इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापि(डि)व्याकरणेक्षिणः। देवस्य देवसंघस्य न वंद्यन्ते गिरः कथम् ॥३१॥

† कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरांस्तत्र वर्ण्यते। विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ ॥४२॥ प्रथम पर्व

‡ अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा। शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥ पार्श्वनाथचरित १—१८।

' देखें, जैन साहित्य-संशोधक भाग १, अंक २ में प्रकाशित श्रीयुत प्रेमी जी का 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनंदि' शीर्षक लेख।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

वार्तिक के तीसरे परिच्छेद की १२४ वीं कारिका के ही शब्द हैं। न्यायविनिश्चय की एक कारिका का पूर्वार्द्ध है—"भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि संभवात्।" यह प्रमाणवार्तिक के "भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः ॥ १—९१ ॥" का ही उत्तर है। इसी तरह आप्त-मीमांसा-कारिका ५३ की अष्टशती में "न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्" आता है। यह प्रमाण-वार्तिक के प्रथम परिच्छेद की २७९ वीं कारिका का उत्तरार्द्ध है, तथा अष्ट-सहस्री पृष्ठ ८१ में अष्टशतीकार अकलङ्कदेव ने 'मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा' आदि लिख कर जो बौद्धों के निग्रह-स्थानों की आलोचना की है वह धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' का ही खण्डन किया है। अतः इसमें तो विवाद ही नहीं कि अकलङ्क ने धर्मकीर्ति का खण्डन किया है। किन्तु इससे धर्मकीर्ति और अकलङ्क के बीच में एक शताब्दी का अन्तराल नहीं माना जा सकता, जैसा कि लेखक ने लिखा है। दो समकालीन ग्रन्थकार भी—यदि उनमें से एक वृद्ध हो और दूसरा युवा हो तो—एक दूसरे का खण्डन-मण्डन कर सकता है और इतिहास में इस तरह के अनेक दृष्टान्त मिलते भी हैं। अतः धर्मकीर्ति का खण्डन करनेके कारण अकलङ्क को उनके १०० वर्ष बाद का विद्वान् नहीं माना जा सकता।

५ डाक्टर के० बी० पाठक ने अपने कई लेखों में इस बात को सिद्ध किया है कि कुमारिल-भट्ट ने समन्तभद्र और अकलङ्क के कुछ मन्तव्यों पर आक्रमण किया है, अतः कुमारिल अकलंक के समकालीन होते हुए भी अकलंक के बाद तक जीवित रहे थे। भण्डारकर-प्राच्य-विद्या-मन्दिर की पत्रिका जिल्द ११, पृ०१४९ में समन्तभद्र के समय पर उन्होंने एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने अकलंकदेव और उनके छिद्रान्वेषी कुमारिल के साहित्यिक व्यापारों को ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रखने की सलाह दी थी[1]। डा० कामताप्रसादजी ने भी अपने पक्ष के समर्थन में डा० पाठक की सलाह को अपनाया है और कुमारिल का सुनिश्चित समय—न मालूम किसके अधार पर—ई० स० ७०० से ७६० तक बतलाया है। प्रथम तो कुमारिल का यह सुनिश्चित समय ठीक नहीं है जैसा कि मैं बतलाऊंगा। और यदि इसे ठीक भी मान लिया जाये तो डाक्टर पाठक का यह मत कि कुमारिल अकलङ्क के बाद तक जीवित रहे हैं, लेखक के दिये गये अकलङ्क और कुमारिल के समय से ही बाधित हो जाता है। लेखक ने अकलंक का कार्यकाल ई० ७४४ से ७८२ तक लिखा है और कुमारिल का ई० ७०० से ७६० तक। इस से तो अकलंक का कुमारिल के २२ वर्ष बाद तक जीवित रहना सिद्ध होता है, जो लेखक के द्वारा स्वीकृत डाक्टर पाठक के मत से बिल्कुल विपरीत है।

भण्डारकर-प्राच्य-विद्या-मन्दिर पूना की पत्रिका, जिल्द १३ पृष्ठ १५७ पर मुद्रित

१ देखें, जैनजगत्, वर्ष ६, अंक १५, १६ में प्रकाशित 'समन्तभद्र का समय और डा० के० बी० पाठक, शीर्षक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का लेख।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

'अकलंक का समय' शीर्षक अपने लेख में एक स्थल पर डाकर पाठक ने लिखा है कि अकलंक का समय इतना सुनिश्चित है कि उसकी वजह से अकलंक के छिद्रान्वेषक कुमारिल को सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध का विद्वान नहीं माना जा सकता। इन शब्दों को पढ़ कर डाकर पाठक की इस असिद्ध से असिद्ध को सिद्ध करने की प्रणाली पर हमें कुछ अचरज अवश्य हुआ। अकलंक को साहसतुंग दन्तिदुर्ग का समकालीन ठहराना कितने सुदृढ़ स्तम्भों पर अवलम्बित है यह हम दिखला ही चुके हैं तथा आगे भी बतलायेंगे। उसके आधार पर कुमारिल को भी आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में घसीट कर ले आना किसी तरह भी उचित नहीं कहा जा सकता। वास्तव में अकलंक की तरह कुमारिल का समय निर्धारण करने में भी एक शताब्दी की भूल की गई है और इस भूल की वजह से डाकर पाठक से अन्य भी कई भूलें हो गई हैं, जैसे नालंदा बौद्ध विद्यापीठ के आचार्य तत्वसंग्रहकार शान्तरक्षित को नवीं शताब्दी का विद्वान बतलाना। शान्तरक्षित ने अपने तत्वसंग्रह में कुमारिल की बहुत सी कारिकाएँ उद्धृत की हैं, अतः जब कुमारिल को आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का विद्वान् कहा जाता है तो शांतरक्षित को नवीं शताब्दी का विद्वान् कहना ही पड़ेगा। किन्तु यह शृङ्खला इतिहास से बाधित है।

मुनि जिनविजयजी[1] ने अनेक प्रमाणों के आधार पर हरिभद्रसूरि का समय ई० सन् ७०० से ७७० तक स्थिर किया है, क्योंकि ई० सन् ७७८ में रचित 'कुवलयमाला' में उनको स्मरण किया गया है। हरिभद्रसूरि ने अपने शास्त्रवार्ता-समुच्चय की स्वोपज्ञ-टीका में 'सूक्ष्म-बुद्धिना शान्तरक्षितेन' लिखकर स्पष्टरूप से शान्तरक्षित का नाम निर्देश किया है और शांत-रक्षित ने अपने तत्वसंग्रह ग्रन्थ में कुमारिल की अनेक कारिकाएँ उद्धृत की हैं, अतः कुमारिल को सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानना ही पड़ेगा। और जब डाकर पाठक के मतानुसार अकलंक की अष्टशती पर कुमारिल ने आक्षेप किये हैं और कुमारिल उनसे कुछ समय बाद तक जीवित रहे हैं तो अकलंक को भी सातवीं शताब्दी के मध्य का विद्वान् मानना ही होगा। यदि उक्त चारों विद्वानों की औसत आयु ६० वर्ष मानी जाय तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए उनका समय-क्रम इस प्रकार मानना होगा—अकलंक ई० ६२० से ६८० तक, कुमारिल ई० ६४० से ७०० तक, शान्तरक्षित[2] (क्योंकि उसने कुमारिल और उसके साक्षात् शिष्य उव्वेयक उपनाम भवभूति का उल्लेख किया है) ई० ७०० से ७६० तक और हरिभद्र ई० ७१० से ७७० तक।

६ अकलंकचरित के श्लोक का अर्थ करने में तो लेखक महोदय ने कमाल कर दिया

१ जैन साहित्य-संशोधक, भाग १, अंक १, में 'हरिभद्र सूरि का समय-निर्णय' शीर्षक लेख।

२ देखें, तत्व-संग्रह की अंग्रेजी प्रस्तावना।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

है। आप के द्वारा उद्धृत श्लोक* में 'शक' शब्द का कहीं नाम भी नहीं है, प्रत्युत 'विक्रमार्क' स्पष्ट लिखा है, फिर भी आपने उसका अर्थ शक सं० कर दिया है और इस तरह अकलंक के बौद्धों से शास्त्रार्थ करने के समय वि० सं० ७०० (ई० ६४३) के स्थान में शक सं० ७०० (ई० ७७८) लिख गये हैं, जो उनकी अकलंक को दन्तिदुर्ग का समकालीन सिद्ध करने की धुन में जानबूझ कर की गई भूल का परिणाम जान पड़ता है। अतः लेखक-द्वारा प्रदत्त इस प्रमाण से भी हमारे ही मत की पुष्टि होती है न कि लेखक के मत की।

'अकलंक का समय' शीर्षक डाक्टर पाठक के लेख का निर्देश हम ऊपर कर आये हैं और यह भी लिख आये हैं कि डाक्टर पाठक को अपने निर्धारित समय की सुनिश्चितता पर इतना दृढ़ विश्वास था कि उन्होंने उसके आधार पर कुमारिल को आठवीं और शान्तरक्षित को नवीं शताब्दी का विद्वान् मान लिया। उनके इस विश्वास का आधार था, प्रभाचन्द्र का प्रसिद्ध श्लोक "बोधःकोऽप्यसमः समस्तविषयः प्राप्याकलंकं पदम्" आदि, जिसका अर्थ यह किया गया कि प्रभाचन्द्र ने अकलंक के चरणों के समीप बैठ कर ज्ञान प्राप्त किया था, और

* विक्रमार्कशताब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि । कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

पं० जुगलकिशोर जी ने भी अपने 'समंतभद्र' (पृष्ठ १२५) में यह श्लोक उद्धृत किया है। किन्तु उसमें 'विक्रमार्कशकाब्दीय' पाठ है जो शुद्ध प्रतीत होता है। बाबू कामताप्रसाद जी ने भी अपने लेख के फुटनोट में इस बात का निर्देश किया है और पं० जुगल किशोर जी के अर्थ वि० सं० ७०० पर आपत्ति करते हुए लिखा है कि दक्षिण भारत के कई लेखों में शकाब्द का उल्लेख 'विक्रमार्क' शब्द से हुआ है। हुआ होगा, किन्तु यहाँ पर तो ऐतिहासिक घटना-क्रम से विक्रम सम्वत् की ही पुष्टि होती है। तथा इसका समर्थन लेखक की उस आशंका से भी होता है जो उन्होंने शक सं० ७०० के बारे में प्रकट की है। वे लिखते हैं "किन्तु इस अवस्था में कुमारिल का अकलंक के बाद तक जीवित रहना बाधित होता है। हमारे ख्याल से या तो कुमारिल के काल-निर्णय में कुछ गड़बड़ी है, अथवा अकलंक देव को कुमारिल के आक्षेप को देख कर उसके निरसन करने का अवसर नहीं मिला था।" हेतु नं० ५ में डाक्टर पाठक के मत का उल्लेख और कुमारिल का सुनिश्चित समय वि० सं० ८१७ तक लिखने के बाद भी निष्कर्ष निकालते हुए अकलंक के समय की अन्तिम अवधि ८३९ वि० सं० निर्णीत की गई और उस समय लेखक महोदय को अपनी उस भूल का ध्यान न आया जिसे हम हेतु नं० ५ को हेत्वाभास सिद्ध करते समय दरसा आये हैं। हर्ष है कि अकलंक-चरित के 'विक्रमार्कशक' का अर्थ शकसम्वत् करते हुए उन्हें अपनी भूल ज्ञात हो गई और उससे उन्हें कुमारिल के काल-निर्णय में कुछ गड़बड़ी मालूम दी। किन्तु हम ऊपर बता चुके हैं कि कुमारिल का काल-निर्णय कुछ नहीं बल्कि सर्वथा गड़बड़ है और इस गड़बड़ी का मूल कारण अकलंक के काल-निर्णय की गड़बड़ी है।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रभाचन्द्र अकलंक के शिष्य थे। अपने उक्त लेख में श्रीकण्ठ शास्त्री* के मत की आलोचना करते हुए स्व० डा० पाठक ने बड़े जोर के साथ लिखा है कि यदि अकलंक का समय ६४५ ई० माना जाय तो 'प्राप्ताकलङ्कं पदम्' के अनुसार प्रभाचन्द्र—जिनका स्मरण आदिपुराण (ई० ८३८) में किया गया है और जो अमोघवर्ष प्रथम के समय में हुए हैं—अकलंक के चरणों में नहीं पहुंच सकते। बाबू कामताप्रसाद जी ने भी डाक्टर पाठक के इस मत का अनुसरण किया है और प्रभाचन्द्र को अकलंक का समकालीन बतला कर प्रमाणरूप से फुटनोट में उक्त श्लोक उद्धृत कर दिया है। किन्तु पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार† डाक्टर पाठक के इस भ्रम का निराकरण बड़ी अच्छी तरह कर चुके हैं। यहाँ उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। प्रभाचन्द्र तो क्या, अकलंक के प्रकरणों के ख्यातनामा व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द भी, जिनका स्मरण प्रभाचन्द्र ने किया है, अकलंक के समकालीन नहीं जान पड़ते, क्योंकि अनन्तवीर्य अकलंक के प्रकरणों का अर्थ करने में अपने को असमर्थ बताते हैं तथा दोनों ने धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर गुप्त आदि बौद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है जो आठवीं शताब्दी के विद्वान् हैं और जिनका अकलंक के प्रकरणों पर कोई प्रभाव नहीं जान पड़ता। अतः प्रभाचन्द्र के उक्त श्लोक के आधार पर प्रभाचन्द्र को अकलंक का साक्षात् शिष्य बतलाना और इसीलिये अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्य से खींच कर आठवीं शताब्दी के मध्य में ला रखना सरासर भूल है।

बाबू कामताप्रसाद जी के द्वारा अपने मत के समर्थन में दिये गये हेतुओं को हेत्वाभास सिद्ध करने के बाद हम कुछ ऐसे और भी हेतु उपस्थित करेंगे जो उनके मत का निरसन और हमारे मत का समर्थन करते हैं। अनन्तवीर्य‡ के समय के सम्बन्ध में डा० पाठक के मत की आलोचना करते हुए एक फुटनोट में प्रो० ए० एन० उपाध्याय ने अकलंक के समय के संबंध में भी उनके मत की आलोचना की है और दन्तिदुर्ग को साहसतुंग कहना केवल अनुमान मात्र बतलाया है। तथा यह भी लिखा है कि धवला टीका में—जो जगत्तुंग के राज्य में (७८४ से ८०८) समाप्त हुई थी। अनेक स्थलों पर वीरसेन ने अकलंक के राजवार्तिक से लम्बे लम्बे चुनिन्दा वाक्य उद्धृत किये हैं। पं० जुगलकिशोर जी ने‖ धवला टीका का समाप्ति-

* भाण्डारकर-प्राच्य विद्या-मंदिर पूना की पत्रिका, जिल्द १२, पृष्ठ २५३-२५५ में 'विद्यानंद और शंकर-मत' शीर्षक से श्रीकण्ठ शास्त्री का एक लेख प्रकाशित हुआ है, उस में लेखक ने अकलंक का समय ६४५ ई० लिखा है, उसी का खण्डन करने के लिये स्व० डा० पाठक ने 'अकलंक का समय' शीर्षक निबन्ध लिखा था।

† अनेकांत, जिल्द १, पृष्ठ १३०।

‡ जैनदर्शन, वर्ष ४, अंक १, पृष्ठ ३८६ से। ‖ समन्तभद्र, पृष्ठ १७

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

काल शक सं० ७३८ (ई० ८१६) लिखा है। यद्यपि अकलंक को दंतिदुर्ग का समकालीन मान लेने पर भी वीरसेन के द्वारा धवला टीका में उनके राजवार्तिक से उद्धरण दिये जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि अकलंक के अंत और धवला की समाप्ति में ३४ वर्ष का अन्तर है, फिर भी धवल सरीखे सिद्धांतग्रन्थ में वीरसेन जैसे सिद्धांत-पारगामी के द्वारा आगम-प्रमाण के रूप में राजवार्तिक से वाक्य उद्धृत करना प्रमाणित करता है कि वीरसेन के समय में राजवार्तिक ने काफी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और उसमें काफी समय लगा होगा, अतः अकलंक को दन्तिदुर्ग का समकालीन नहीं माना जा सकता।

सिद्धसेन गणी ने अपनी तत्वार्थ-भाष्य की टीका[1] में अकलंक के सिद्धि-विनिश्चय का उल्लेख किया है। इनका समय अभीतक निर्णीत नहीं हो सका है। 'जैन साहित्यनो इतिहास[2]' में परम्परा के आधार पर इन्हें देवर्द्धिगणि (५वीं शताब्दी के लगभग) का समकालीन बतलाया गया है, किन्तु इतने प्राचीन तो यह कभी हो ही नहीं सकते। इन्होंने अपनी तत्वार्थ-भाष्यवृत्ति[3] में धर्मकीर्त्ति का नाम निर्देश किया है और दूसरी तरफ नवमी शताब्दी के विद्वान् शीलाङ्क[4] ने गन्धहस्ती नाम से इनका उल्लेख किया है, अतः वे सातवीं और नवमी शताब्दी के मध्य में हुए हैं इतना सुनिश्चित है। पं० सुखलालजी[5] का कहना है कि हरिभद्र और सिद्धसेन गणि ने परस्पर में एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया अतः ऐसी संभावना जान पड़ती है कि ये दोनों या तो समकालीन हैं या इनके बीच में बहुत ही थोड़ा अन्तर होना चाहिये। हरिभद्र का सुनिश्चित समय हम ऊपर लिख आये हैं अतः सिद्धसेन गणि को आठवीं शताब्दी का विद्वान् मानने में कोई बाधा नहीं है। अब यदि अकलङ्क का समय भी आठवीं शताब्दी माना जाता है तो उनकी सुप्रसिद्ध कृति का सिद्धसेन गणि-द्वारा उल्लेख किया जाना संभव प्रतीत नहीं होता अतः अकलङ्क को आठवीं शताब्दी का विद्वान् न मान कर सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानना चाहिये।

जिनदास[6] गणि महत्तर ने निशीथसूत्र पर एक चूर्णि रची है। इनकी एक चूर्णि नन्दिसूत्र पर भी है। इस चूर्णि की प्राचीन विश्वसनीय प्रति में इसका रचना-काल शक सं० ५९८ (ई० ६७६) लिखा है। निशीथ-चूर्णि में जिनदास ने सिद्धसेन के 'सन्मति'

---

१ एवं कार्यकारणसम्बन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्त्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चयसृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेण। पृ० ३७।

२ लेo मोहनलाल देसाई, पृ० १४३।

३ पृ० ३६७। ४ आचाराङ्ग-टीका, पृष्ठ १ तथा ८२।

५ 'तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार और व्याख्याएं' शीर्षक लेख, अनेकांत वर्ष १, पृ० ५८०।

६ 'सन्मति-प्रकरण' (गुजराती) की प्रस्तावना, पृष्ठ ३५-३६।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

के साथ-साथ अकलंक के सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थ का भी उल्लेख[1] किया है और उसे दर्शन और ज्ञान के प्रभावक शास्त्रों में गिनाया है। इस उल्लेख से अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान् मानने में कोई शंका अवशेष नहीं रह जाती।

तथा अकलंक के ग्रन्थों पर से भी हमारे उक्त मत का समर्थन होता है। विद्वान् पाठकों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि धर्मकीर्ति ने अपने पूर्वज दिङ्नाग के प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद को स्थान दिया था। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष का लक्षण केवल 'कल्पनापोढ़' रक्खा था किंतु धर्मकीर्ति ने कल्पनापोढ़ और अभ्रांत रक्खा। अकलंक ने अपने राजवार्तिक में दिङ्नाग के लक्षण का खण्डन किया है और उस प्रकरण में जो दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं, उनमें से एक[2] दिङ्नाग के 'प्रमाण-समुच्चय' की है और दूसरी[3] वसुबन्धु के अभिधर्मकोश की। इसके अतिरिक्त उसी प्रकरण में कल्पना का लक्षण करते हुए उसके पाँच भेद किये हैं। रशियन प्रो० चिरविस्टकी[4] (stcherbatsky) लिखते हैं कि दिङ्नाग ने कल्पना के पाँच भेद किये थे—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अकलंकदेव ने राजवार्तिक की रचना अपने प्रारम्भिक जीवन में की थी, उस समय तक या तो धर्मकीर्ति ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ प्रमाण-वार्तिक, प्रमाण-विनिश्चय आदि की रचना नहीं की थी या वे प्रकाश में नहीं आये थे। किन्तु उस समय भी अकलंक धर्मकीर्ति से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने राजवार्तिक पृष्ट १९ पर 'बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा' आदि एक कारिका उद्धृत की है। कहा जाता है कि धर्मकीर्ति के 'सन्तानान्तरसिद्धि' नामक प्रकरण की यह पहली कारिका है। इतिहासज्ञों ने धर्मकीर्ति का कार्यकाल ६३५ ई० से ६५० तक निर्णीत

१ दंसणगाही—दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छयसंमदिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्पायश्चित्ती भवतीत्यर्थः।

२ प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना। असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते ॥१॥

३ सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः। निरूपणानुस्मरणविकल्पनविकल्पकाः ॥२॥

अभिधर्मकोश में 'विकल्पादविकल्पकाः' पाठ है।

४ बुद्धिस्ट लॉजिक, २य भाग, पृष्ठ २७२ पर फुटनोट नं० ६।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार के उल्लेख से भी यह पता चलता है कि दिङ्नाग ने कल्पना के पाँच भेद किये थे। यथा—"संप्रति दिग्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति। दूषयितुं कल्पनास्वरूपं पृच्छति अथ केयमिति। लक्षणवादिन उत्तरं नामेति। यदृच्छाशब्देषु हि नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थेति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति। सेयं कल्पना।"

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

किया है। और प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यू नत्सांग* के द्वारा अपने गुरु-भाई धर्मकीर्ति का उल्लेख न किये जाने से यह भी स्पष्ट है कि उस समय वह विद्यार्थी थे। ह्यू नत्सांग ई० ६३५ तक नालन्दा में रहा और उसी वर्ष आचार्य धर्मपाल ने नालंदा विद्यापीठ के अध्यक्ष-पद से अवकाश ग्रहण किया। अतः धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक जैसी उत्कृष्ट रचनाएँ ई० ६३५ के बाद ही रची गई जान पड़ती हैं। यही वजह है कि अकलंक के न्यायविनिश्चय में जो धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय का स्मरण कराता है—हम धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष के लक्षण का खण्डन पाते हैं। यदि अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान् माना जाय तो उक्त समस्या पर हृदयस्पर्शी प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अतः अकलंक को दंतिदुर्ग या कृष्णराज प्रथम का समकालीन मानने की पुरानी मान्यता को छोड़ कर उन्हें सातवीं शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान् मानना चाहिये।

निष्कर्ष

स्व० डा० विद्याभूषण, प्रेमी जी, तथा स्व० डा० पाठक-कथोपवर्णित शुभतुंग या साहस-तुंग नाम के आधार पर राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्णराज प्रथम को शुभतुंग और दंतिदुर्ग को साहसतुंग ठहरा कर अकलंक को आठवीं शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान् मानते हैं। बाबू कामता प्रसाद जी डा० पाठक के दंतिदुर्ग को साहसतुंग ठहराने की बात के पक्ष में हैं। किंतु हमारी दृष्टि से दोनों मतों में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों ही मत अकलंक को आठवीं शताब्दी का विद्वान् ठहराते हैं। डाक्टर विद्याभूषण ने तो कृष्णराज को शुभतुंग मानने के सिवा अपने पक्ष के समर्थन में कोई हेतु नहीं दिया। डाक्टर पाठक का जोर दो ही हेतुओं पर है—एक कुमारिल का अकलंक के बाद तक जीवित रहना और दूसरा प्रभाचन्द्र का अकलंक का साक्षात् शिष्य होना। प्रथम हेतु के अनुसार डा० पाठक की यह मान्यता कि अकलंक पर कुमारिल ने आक्रमण किया है—अकलंक को सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानने का ही समर्थन करती है यह हम ऊपर भले प्रकार सिद्ध कर आये हैं। दूसरा हेतु भी विद्वानों के द्वारा खण्डित किया जा चुका है।

बाबू कामता प्रसाद जी ने अपने पक्ष के समर्थन में जिन हेतुओं का सङ्कलन किया था उनकी निस्सारता ऊपर सिद्ध कर दी गई है और कई नये प्रमाण देकर यह साबित कर दिया है कि अकलंक सातवीं शताब्दी के मध्यकाल के विद्वान् थे। अतः डाक्टर विद्याभूषण और पाठक की दुहाई देना बेकार है। अकलंक को सातवीं शताब्दी के मध्यकाल का विद्वान्

---

* हमारे सहयोगी पं० महेन्द्रकुमार जी से उनके मित्र मि० तारकस ने—जो तिब्बतीय भाषा जानते हैं तथा उस पर से कई बौद्ध ग्रंथों का अवलोकन कर चुके हैं—यह बात कही थी।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

मानने के समर्थक हेतुओं का संक्षिप्त रूप निम्न प्रकार है —

१—आठवीं शताब्दी के मध्यकाल के विद्वान् सिद्धसेनगणि अकलंक के सिद्धिविनिश्चय ग्रंथ का उल्लेख करते हैं।

२—सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान् जिनदास महत्तर अपनी निशीथचूर्णि में सिद्धि-विनिश्चय का उल्लेख प्रभावक ग्रन्थों में करते हैं।

३—अकलंक-चरित में लिखा है कि वि० सं० ७०० (६४३ ई०) में अकलंकयति का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ।

४—डाक्टर पाठक का कथन है कि कुमारिल अकलंक के बाद तक जीवित रहे, और कुमारिल का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

५—अकलंक ने अपने ग्रन्थों में धर्मकीर्ति का खण्डन किया है, किंतु राजवार्तिक में उन्होंने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष की परिभाषा का उल्लेख न करके दिङ्नाग-कृत परिभाषा का खण्डन किया है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि राजवार्तिक की रचना उन्होंने अपने प्रारंभिक काल में की है और उस समय धर्मकीर्ति के वे ग्रन्थ—जिनका अकलंक ने अपने अन्य प्रकरणों में खंडन किया है—प्रकाश में नहीं आये थे। धर्मकीर्ति का कार्यकाल ६३५ से ६५० तक निर्णीत किया गया है अतः उस समय अकलङ्क को युवा होना चाहिये।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

एक प्राचीन गुटका

(सं०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन)

श्री दि० जैन बड़े मन्दिर मैंनपुरी के शास्त्र-भाण्डार को देखने का सौभाग्य हमें कुछ वर्षों पहले प्राप्त हुआ था। उसके कतिपय ग्रन्थरत्नों का परिचय हमने पहले 'वीर' द्वारा पाठकों को कराया था। उनमें महाकवि पुष्पदन्त-कृत यशोधर-चरित्र (अपभ्रंश अपूर्ण) कल्पसूत्र सचित्र (श्वे०) आदि ग्रन्थ दर्शनीय हैं। इन्हीं में एक गुटका भी उल्लेखनीय है। यह करीब ३०० वर्ष का लिखा हुआ है; जैसे कि उसकी निम्नलिखित प्रशस्ति से प्रकट है:—

"अथ सम्वत्सरे श्रीनृप-विक्रमादित्य-राज्ये। संवतु १६८० जेष्ठ मासे शुक्ल पक्षे परवणी नवमी भोम दिने श्रीनूरदीं जहाँगीरवादिसाहिराज्यप्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वे पुष्करगणे भट्टारक श्रीगुणचन्द्रदेवान्। तत्पट्टे भट्टारक श्रीसकलचन्द्रः। तत्पट्टे मंडलाचार्य माहेंन्द्रसेण तत्सिष पंडित भगवतीदासु। तेन इदं सांचिका-मध्ये लिपकृताः॥ लिषापितं बीनीदासु शुभमस्तु।"

इसमें पहले ही श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत 'षट्पाहुढ' टीका-सहित लिखी गई हैं। उपरान्त 'परमात्मप्रकाश' लिखकर 'योगसार' के दोहे लिखे गये हैं, जिनमें आदि-अन्त के ये हैं:—

"णिम्मल झाण परिट्ठिया, कम्म-कलंक डहेवि। अप्पालद्धउ जेण परु, ते पम्मप्प नवेवि॥ १
संसारहं भयभीएण, जोगचन्द मुणिएण। अप्पासंबोहण कयहं, दोहा कव्वमिसेण॥ इति॥"

इसके बाद देवसेन-कृत 'तत्वसार' लिखा गया है, जिसकी प्रारम्भिक और अन्तिम गाथाएँ इस प्रकार हैं :—

"झाणग्नि-दड्ढकम्मे णिम्मल सुविसुद्ध लद्ध-सद्भावे।
णमि ऊण परमसिद्धे, सुतव्वसारं पवोक्खामि॥
सो ऊण तव्वसारं, रइयं मुणिणाह देवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ, सो पावइ सासयं सोक्खं॥ ७४॥"

फिर द्रव्य-संग्रह लिख कर 'सामायिक समस्त भक्ति तीन-सहित' लिखा है। शायद यह बम्बई के मुनि अनन्तकीर्ति-ग्रन्थमाला-द्वारा प्रकाशित सामायिक ग्रन्थ ही है। उपरान्त 'ढाढसी गाथायें' ३८ दी हैं। आदि-अन्त यथावत् समझिये:—

"टूटंति पलालहरं, माणुसजम्मस्स पाणियं दिन्नं।
जीवा जे हिणणाया, णाऊण ण रक्खिया जेहिं॥ १॥

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

विपलिंदय पंचेदिय, समणा असणाय पज्जपज्जन्ता।
थावर-चायर-सुहुमा, मणवयकाएण रक्खिव्वा ॥ २ ॥
छर्तासमाहाए, जो पठइ सुणइ भत्तिभारेणं।
सो णरु जाणइ वंधो, मोक्खो पुणुणाणमउ होदे ॥ ३७ ॥
जो जाणइ अरहन्तो, दव्वस्स गुणत्थपज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहोखुभुजाइ तस्स लयं ॥ ३८ ॥"

आगे भट्टारक सकलकीर्ति-विरचित "सङ्कापितावली" लिखकर 'टंडाणा रास' लिखा गया है, जिसके नमूने इस प्रकार हैं:—

"तूं स्याणा तूं स्याणा जियड़े तूं स्याणा वे।
दंसणुणाणुचरणुअप्पणु गुण क्यों तजि हुवा अयाणा वे ॥ १ ॥
मोहमिथ्यात पडिउ नित, पखसि चहुंगति-मांहि यंमाणा वे।
नरकगतिहि दुषक्लेदणु, भेदणु ताडण ताप सहाणा वे ॥ २ ॥
धर्म्मसुकल धरि ध्यानु अनूपम, लहि निजु केयल नाणा वे।
जपति दास भगवती पावहु, सासउ सुहुनिव्वाणा वे ॥ ४ ॥

इन्हीं कवि भगवतीदास जी की और कई रचनायें इसी गुटके में आगे दी हुई हैं। यह कवि और भैया भगवती दासजी एक हैं, यह नहीं कहा जा सकता और जो प्रशस्ति इस गुटके के लिपि-संबन्ध में दी हुई है, उससे इनका समय वि० सं० १६८० और निवास-स्थान सहजादिपुर नगर मालूम होता है। सतरहवीं शताब्दी की हिन्दी-पद्यरचना में इनकी कवितायें भी उल्लिखित की जा सकती हैं। इनके नमूने यथाक्रम आगे देखते चलिये। "वनजार" शीर्षक रचना भी इन्हा की रची हुई है; जिसके नमूने ये हैं:—

"चतुर वनजारे हो नमणु करहु जिणराइ, सारद-पद सिर ध्याइ, ए मेरे नाइक हो ॥१॥
चतुर वनजारे हो कायानगर-मझारि, चेतनु वनजारा रहइ मेरे नाइक हो।
सुमति-कुमति दो नारि, तिहि समनेहु अधिकु गहइ मेरे नाइक हो ॥ २ ॥
चतुर वनजारे हो तेरइ त्रिगनैनी तिय दोई, इक गोरी इक सांवली मेरे नाइक हो।
तेरी गोरड काज सुलोइ, सांवल दइ लडवावली मेरे नाइक हो ॥ ३ ॥
चतुर वनजारिन हो गुरु मुनि मांहिंदसैंन दरसानि तिहं सुषु पाइए मेरी सुन्दरि हो।
दूरि किया तिनि मैंनु तासु चरनि लिवलाइए मेरे नाइक हो।
चतुर बनजारे हो सिहरुजादिनगार-मझारि। दास भगवती यौं कहइ मेरे नाइक हो।
जे गावहि नर-नारि सिवपुरि सासउसुष लहई मेरे नाइक हो ॥ ३१ ॥"

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

इसके बाद इसमें 'तत्वार्थ-सूत्र' जी लिपिबद्ध किये हुए हैं। और फिर भगवतीदास जी की रचनायें मिलती हैं। सबसे पहले 'आदित्यव्रत रासा' लिखा हुआ है। नमूने यों देखियेः—

"आदि जिनेसुर नमसकरी, सारद पणमें स्यों।
रविवत-कथा विथारि घणइ, लहु रासु करेसउं ॥ १ ॥
बानारसि पइपालु निवो मतिसागर साहो।
धरि गुण सुन्दरि सातपूत छह किया विवाहो ॥ २ ॥
गुरु मुणिचन्द पसाइ किया यहु रासु विचारी।
दास भगौती भणइ सुणहु भवियण मिण धारि ॥ १९ ॥
पढ़हिं गुणहिं सुणि सद्दहइ, रविव्रत चितु लावंइ।
राजरिद्धि नर अमर-सुखु सिवरमणीं पावहिं ॥ २० ॥"

दूसरी रचना 'पखवाडे का रास' है और उसके नमूने ये हैं:—

"वीर जिनेसुर नमनु करिवि। सारद सिर न्याऊं।
पन्द्रह तिथि जगि वरत-सारु तिस रासा गांऊं ॥ १ ॥
जंबूदीवहं भरहषेति, चंपापुरि जाणी।
धाड़ी वहु त्रिपु अङ्गदेसि पदमावति राणी ॥ २ ॥
गुरु मुणिमाहिंदसेण-चरण नमि रासा कीया।
दास भगवती अगरवालि जिणपद मनु दीया ॥ २१ ॥
पढ़हिं गुणहिं सुणि मण धरहिं, तिन्ह पाउ पणासइ।
रिउ सोउ सुहु कष्टु हरइ धरि सं'पइ वासइ ॥ २२ ॥"

तीसरी रचना "दसलाक्षणी रासा" है और वह यह है:—

"तणरुह नाभिनरिंद नमौं, सारद पणमैसउं।
दहलक्खण जगिधम्मसारु तिंह रासु भणोसउं ॥ १ ॥
जंबूदीवह भरहषेति, मागध छै देसो।
रायग्रही पुरियहु सुजाणु सेणिउजु नरेसो ॥ २ ॥
अष्टकरम हणि मोषि गये, तजि चहुंगति दुक्खो।
नंतचतुष्टय सोलहि अविनसुर सुक्खो।
अवर कोइ नरुनारि इहो, व्रतु मणवच-काइरसी।
राजरिद्धि सुहुसिध लहि भवसायरु तरसी ॥ ३३ ॥
गुरु मुणिमाहिंदसेंण नामु मुणिचन्दु भणीजइ।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

तिहुं पसाइ इहु रासु किया, दुहु-दुगति-निवारणु ।
पढ़हिं गुणहिं सुणि सद्दहहि, तिन्ह सिवसुहु करणु ॥ ३४ ॥"

चौथी रचना "ग्यारह अनुप्रेक्षा" है, इसके नमूने भी यों देखिये:—

"अवधू जाणिए होधू किछ देषिय नाहिं,
किउं रुचि मानि एहो, विहुडइं जो षिणमांहि ।
षिणमांहि जांहि विलास-मन्दिर, बंधुसुत-वित अति घणा ।
जल-रेह-देह-सनेहु तिय-दामिनि दमक जिउं जोवनां ॥
जिस हति जात न वार लागइ, बुलबला जलि पेषिए ।
अवधू परित्त कहौं जिअ सिउ-धून किछ जगि देषिए ॥ १ ॥
भवि भवि भाविए हो रत्नत्रय-गुण-ज्ञानु ।
अप्पा झाइए हो धम्म सुकल धरि ध्यानु ॥
मनि ध्यानु जिनवर होउ भवि । भवि गुरु दिगंव्वरु पाइए ।
सन्यास-मरना अप्प-सरणा सील सिउं लिव लाइए ॥
छंडहु सदा मनि-राग-दोसहुं, देउ जिणवरु झाइए ।
कवि कहि भगवती दास सिव-सुषु ऐहु भवि २ भाविए ॥ १२ ॥"

पांचवीं रचना "षीचडी रासा" है और वह इस प्रकार प्रारम्भ होता है:—

"पंच परम गुरु वंदिवि सारद नमणु केरि ।
षिचड़ी रासु पयासमिनि सुणहु भाउ धरि ॥ १ ॥
जिण विणु जपु नवि सोहहत पुन बिवं भविनां ।
तव विणु मुणि नवि सोहइ, पंकजु अम्भ विनां ॥ २ ॥
समकित विणु वरतु न सोहइ, संजमु धम्म विनां ।
दया विणु धम्म न सोहइ, उदिमु कर्म विनां ॥ ३ ॥
सकलचन्द भट्टारक उत्तम षिमांधरो ।
तासु पट्टि वयमंडिय मुणि मुणिचन्दवरो ॥
तासु पसाएं रासा षिचड़ी उत्तियऊ ।
होइ भूरि सुहु-संघह भणइ भगौतियऊ ॥ ४० ॥"

छठी रचना "अनन्तचतुर्दसी चौपाई" है और वह इस प्रकार है:—

"प्रथम नमौं जिणवर आदीसु । बड्डमाण जिण न्याऊं सीसु ॥
पुणु पुपुयणविवि सारद माइ । गोइम गणहर लागौं पांइ ॥ १ ॥

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

जंबूदीउप सिद्धउ लोइ, भरहखित्तु दाहिणि दिसि होइ।
मगध देसु देसनि-परधानु, णंनभमंडिल सोभइ भानु ॥ २ ॥
पुव्व पुराणि भणि मुणि आसि, ते सुणि भणिअ भगवती दास।
पढ़हि गुणहि जै भवियण लोइ, मुकति-सिरी-फलु पावहिं सोइ ॥ ५० ॥"

सातवीं रचना "सुगंधदसमी-कथा" है और उसके नमूने इस प्रकार हैं:—

"नेमि जिनिंद नमौं धरि भाउ, सुमति-सुगति-दाता सिवराउ।
पुणु पणमौं सारद सिर न्याइ, रिसि-गुर-गनहर लागौं पांइ ॥
तासु पसाए यह चौपही, दास भगौती लहु-मति कही।
पढ़हि गुणहिं जे भवियण लोय, मुकतिसिरी-फल पावहिं सोय ॥
जे नरु सुणहिं मणिधरि सुधभाउ, भव-भव भूरि पणासइ पाउ ॥ ५१ ॥"

८ वीं और ९ वीं रचनायें श्रीआदिनाथ और शांतिनाथ जी की बिनती हैं। उनके नमूने भी देखिये:—

"आदि जिनेसुर देव, नाभिराय-कुल-कमलरवे।
तुव त्रिभुवन-कृत सेव, चूरिय कर्म्म-कलंक सवे ॥
त्रेसठि पइडि विपाइ, केवल णाणु उपायतने।
धर्म्माधर्म दिखाइ, वोहिय जीव अवोहघने ॥ १ ॥

× × ×

गुरु मुणि माहिंदसेणु, रयणत्तय-गुणि-मंडियो।
तजि मणितणि अधरेंणु, कामु-कसाय विहंडियो ॥
पदपंकज नमि तासु, वीनतड़ी जिणनाह करी।
भणत भगवतीदासु, णिसुणहु भवियण भाउ धरी ॥ ९ ॥"

× × ×

"परम निरंजणु सोइ, सांति जिणेसरु णाणधरो।
अवर न त्रिभुवनि कोइ, तिंह सम देउ अणंगहरो ॥
लोहु-कोहु-मदु छंडि मोहु-मया तिण परहरिया।
पंचमहव्वय-मंडि, उत्तमखिमतणि मणि धरिया ॥ १ ॥"

× × ×

"गुरु मुणि माहिंदसैणु, तासु चरणजुग वन्दि करी।
पाइउ जिण-मगु-रेंणु, दास भगौती भाउ धरी ॥
वीनतड़ी यहु लाये, पढ़हिं गुणहिं जे भवियजणा।
धामि तिनह धणु होइ, पुणु सिव-सासउ-सुक्खघर ॥ १० ॥

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

ब्रह्म-अगनि परजालि कइ इंधन-काम जराउ।
कइ वनिता-संगि धरि रहो, कई तप-भसम चढाउ ॥"

१० वीं रचना "समाधी रास" है, जिसके आदि-अन्त के छन्द यों हैं:—

"जिण चौवीसो नमणु करेसउं वीजइ सारद-पय पणमेस्यो।
साधु समाधी-रासु भणेसउं दुक्ख-कलेस जलंजलि देसउं ॥

× × ×

गुरु मुणिचन्द-चरण चितु लावइ, रास भगवती रासा गावइ।
अवर भविकु जो पढ़इ पढ़ावइ, सो मणवंछिय संप्पइ पावइ ॥"

११ वीं रचना "आदितवार कथा" है, उसकी भी बानगी देख लीजिये:—

"सयल जिण हंयय पणविवि सरसय नमणु करे।
रविवउ-वरिय पयासमि निसु णहु भाउ धरे ॥ १ ॥
जंबूदीउप सिउउ, भरहखित्तु सुजहां।
वाणारसि नयरि पुणु निउ पइपालु तहाँ ॥२॥

× × ×

सकलचंदु भट्टारगु सम्यग णाण-धरो।
तासु पट्टिवयमंडिय मुणि मुणिचन्दवरो।
तासु चरण नमि भविय हुइमय उत्तियऊं।
होउ कुसलु चौसंघह भणइ भगौतियऊ ॥ ४५ ॥"

१२ वीं रचना "चुनड़ी मुकति-रमणी" की है, जिसके नमूने भी देखिये.—

"आदि जिनेसरु वंदिऐ, मनवयकामति सुद्धि हो,
सारद-पय पणमंउ सदा, उपजइ निरमल बुद्धि हो ॥
मेरी मुकति-रमणि की चूनड़ी, तुम जिनवर देहु रंगाइ हो।
त्रिभ वह सिय-पिय-सुन्दरी, अरुन अनूपम लाल हो ॥
मेरी भवितारण चूनड़ो ॥ १ ॥

समकित-वस्तु विसाहिले, ज्ञानसलिल संगि भेइ हो।
मल पचीस उतारिये, दिढ़ मनुं साजि देइ हो ॥
मेरी मुकति-रमणी की चूनड़ी तुम जिनवर देहु रंगाइ हो।
मेरी भवजल-तारण चूनड़ी ॥ २ ॥

× × ×

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

मुकति-रमणि रंगि सो रमइ, बसु-गुण-मंडित सोइ हो।
नंतचतुष्टय सुषु घणां, जम्मण मरणु न होइ हो ॥ मेरी मुकति० ॥
गुरु मुनि माहिंदसैनु हुइ, पदपंकज नमि तासु हों।
सहरि सुहावइ वूडिए, भनत भगौतीदासु हो ॥ मेरी मुकति० ॥
राजबलि जहांगीर कह फिरिय जगति तिस आण हो।
ससिरसवसुविंदा धरहु संवतु गुणहु सुजान हो ॥"

१३ वीं रचना "योगी रासा" है और वह इस प्रकार है:—

"परम निरंजनु, भवदुह-भंजनु जिनु-जोगी जग-नाथो।
आदि जगद गुरु मुकति-रमणि यरु ताहि नवाऊं माथो ॥ १ ॥
बोध दियायर गणहर हूएते नमि पणमौं पाया।
साहु-सिरोमणि लोहावारजु जिनि जिणमग्गो बताया ॥ २ ॥
पेषहु हो तुम पेषहु भाई, जोगी जगमहिं सोई।
घट-घट-अन्तरि बसइ चिदानन्दु अलषु न लषइ कोई ॥ ३ ॥
भव-वन भूलि रह्यौ भ्रमिरावलु, सिवपुर-सुधि विसराई।
परम प्रतिंदिय सिवसुषु तजि करि विषयनि रहिउ लुभाई ॥ ४ ॥"

× × ×

"नंतचतुष्टय-गुण-गण राजहिं तिन्ह को हउं बलिहारी।
मनि धरि ध्यानु जपहु शिवनाइक, जिउं उतरहु भवपारी ॥ ३७ ॥
जोगीरासो सुणहु भविकजण, जिउं तूटहिं कर्मपासो।
गुरुमुणि मांहिदसेन-चरण नमि भनत भगवतीदासो ॥ ३८ ॥"

१४ वीं रचना "अनथमी" शीर्षक इस प्रकार है।

"नवे पिणु सामिय वीर जिणिंद, तिलोय पयासण-बोह-दिणिंद।
पयत्थंह भाषणणेय पयार, गणिंद नमामि भवोवहितार ॥ १ ॥
सुरिंद नरिंद समुच्चिय जाणि, सयपणमांमि जिणेसर-चाणि,
पयासमि गुणु अणथमिय सुलोइ। सुणेहु तु सावयणिच्चल होइ ॥ २ ॥

× × ×

मुणिंदु जनिंदु महिंदजिसैनु जिणि उरणि दुर्द्धर दुर्जय मैनु।
नमौं पद-पंकज मणवय तासु, सुपंडिउ भणइ भगवतीदासु ॥ २६ ॥"

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

१५ वीं रचना 'मनकरहा रासु' है और उसके नमूने इस प्रकार हैं:—

"मन करहा जगवनिमहिं भ्रम्यों, चरत विषइ-बन राइ रे।
चहुंगति चहुंदिसि सो फिरइ भवतरवर-फल षाई रे॥ मन०॥ १॥
अरे लख-चौरासी महिं रुल्या, करहलु पंचपयारी रे।
सुरनर-पसु-जोणिहिं फिरिऊ, नरय गयो बहुवार रे॥ मन०॥ ३॥
जरे नित्य इतरंजु निगोदहीं, सात-सात लष मांही रे।
वसु-दस जम्मण-मरण तहां, समइ समइ जुलहाई रे॥ मन०॥ ३॥

× × ×

अरे जब जियडइ सिवपुरु लह्यो, जम्मणु-मरणु न होइ रे।
नंतचतुष्टय सुषु घणां, वसुगुण-मंडित सोई रे॥ मन०॥ २४॥
अे गुरु मुनि माहिंदसेनु हइ, पद-पङ्कज नमि तासो रे।
सहरि भलइ सहिजादपुरि, भनत भगौती दासो रे॥ मन०॥ २५॥"

१६ वीं रचना 'वीरजिणिन्द-गीत' शीर्षक है. जिसके आदि-अन्त के छन्द इस प्रकार हैं:—

"वीर जिणिंद-समोसरणि जो विपुलाचल गिरि थानि।
मेघकुमारि वैरागिओजी, सुनि गुरु गनहरवानि॥
मनोहर धरमि महाव्रत यारु, यह संसारो असारु री माई,
धरमि महाव्रतभारु॥१॥

नवजोवनि तूं बालिकोजी, अति दुर्द्धर जाऊ जोग।
वसु-रमणी गयगामिणी जो, वहुविह भुगवहु भोगु॥
—कुमरजी संजुमु दुरद्धरभारु॥ २॥

गुरु मुनि मांहिदसेनि नमि जी, भनत भगवती दासु।
जे नर-नारी गावहिं जी, तेतो उहि कर्मपासु॥
परम गुरु धनि संयम-धारु॥२२॥"

१७ वीं रचना "रोहिणीव्रत रासु" है और उसका आदि-अन्त इस प्रकार है:—

"पणविवि वीर-वरण गुरुगण गणहरु, अरु सारद सिर न्याऊं।
रोहणिव्र-विधिरासु अनूपम, मणवन्नि रुचिकर गाऊं। भविक जण॥
तासु पसाइ कियो मइ लहुमति, रोहणिव्रतविधि-रासो।
अगरवालु अरगल पुर पहणि भनत भगौतीदासो॥ ४२॥"

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

१८ वीं रचना 'ढमाल राजमती-नेमीसुर' का है और उसके नमूने ये हैं :—

"पंच परम गुरु वंदिवि करि सारद जयकारु।
गुरुपद-पंकज पणमौं, सुमति-सुगति-दातारु॥
सोरठि देसु भला सब देसनिमइं परधानु।
महिमंडलि इउं राजति जिउं नभ-मंडलु भानु॥ १॥
तहिं नवरी द्वारावति वन-उपवन-आराम।
इन्द्रपुरी सुविसेषति हेमरत नमई धाम॥
कंवल-अछादिति बावरि, सीतर बारि रसाल।
कूप घने जलपूरित पदमसहित सरताल॥ २॥

× × ×

कोटि जतन कोई करिहौ जीवनु सो नित नाहिं।
तनु-धनु-जीवनु बिनसइ कीरति रहइ जगमांहि॥ ६०॥
मुनि माहेंद्रसैन गुरु तिंह जुगचरन पसाइ।
भाषत दास भगवती, थानि वपिस्थलि आइ॥ ६१॥
नर-नारी जे गावहिं सुणहि, चतुरदे कानु।
भोगवि सुरनर सुहफल पांवहि सिवपुर थानु॥ ६२॥"

१९ वीं रचना 'सज्ञानी ढमाल' है और वह इस प्रकार लिखा गया है:—

"यहु सज्ञानी जीउं जाणि अयाणु हुवा हो।
धुव दीनौ विसराइ राच्यौ तन अधु वाहो॥
ऐकु तजि विसुषं रैनुं, निसि-दिन ऐकु किया हो।
ऐक बिना जगमांहि, बहु दुष ऐकि दियो हो॥ १॥

× × ×

जगमहिं जीवनु सुपनां, मन-मनमथु परहरिऐ।
लोहु-कोहु-मद-माया, तजि भवसायरु तरिऐ॥
मुणि माहेंद्रसेणि इंह निसि प्रणामा तासो।
थानि कपिस्थलि नीकइ भनति भगौती दासो॥ २॥"

इस तरह ये रचनायें कवि भगवतीदास जी अग्रवाल की हैं। इनमें आपने जो अपने बारेमें उल्लेख किया है उससे प्रकट है कि देश-विदेश में विहार करते धर्मसाधनमें लीन थे। आप सहजादिपुर के निवासी थे और संकिसा तथा कपिस्थल में भी आकर रहे थे। अन्तिम दोनों ग्राम जिला फरुखाबाद के संकिसा और कैथिया नामक गाँव हैं। सहजादिपुर भी वहीं

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

कहीं होगा। इन रचनाओंसे हिन्दी-साहित्य की प्रगति और हिन्दी के उत्पत्ति-क्रम पर प्रकाश पड़ता है। ये रचनायें अपभ्रंश-भाषा और १८ वीं-१९ वीं शताब्दी के बीच की लड़ी हैं। इनसे स्पष्ट है कि किस प्रकार अपभ्रंश से पलटते-पलटते हिन्दी की आविर्भूति हुई। सचमुच जैन-साहित्यभाषा और इतिहास-सम्बन्धी नवीन प्रकाश उपस्थित करने से अमूल्य प्रतीत होता है। आगे इस गुटके में 'सोलहकारणव्रत रास' इस प्रकार दिया हुआ है:—

"वीर जिणेसर वसास करी गोयम पणमेसउ।
सोलहकारण-वरत-सार तहि रासु करेसउ॥
जंबूदीवह भारतषेत मगध छइ देस।
राजगृह छइ नगर हेमप्रभ राजधनेस॥ १॥
× × ×
एक चित्तु जो व्रत करै नरु अहवा नारी।
तीर्थंकर-पाद सो लहइ जो समकित धारी॥
सकलकीरति मुनि रासु कियउ ए सोलहकारण।
पढहिं गुणहिं जे संख लहि तिह सिवसुह-कारण॥"

इसके बाद 'जीवसुलक्षण' लिखा हुआ है, जो इस प्रकार है:—

"जीव सुलक्षणा हो, जिणवर भासिउ एम।
परिग्रहा पाहुणा हो विहाड़इ सुरधरमु-जेम॥
विहंडतु सुर धणु जेम परिगहु, कहा तिस सिउ रच्चइ।
नित ब्रह्मलोक विचारि हीयड़इ दुष्ट कम्महं वंचइं॥
पिय पुत्त-बंधुवसयळु अवधू रूप रंगण देषणा।
संवेग-सुरति संभालि थिरुमति, सुणउ जीव सुलक्षणा॥
× × ×
हंसा दुर्लभी हो, मुकति-सरोवर तीरि,।
इन्दिय-वाहिया हो पीवत विषयहंनीर॥
अति विषयनीर पियास लागी, विरह व्यापति आकुल्यौ।
बारह अनुप्रक्षा-सुरति छंड़िय, एम भूलौ बावलो॥
अब होउ ऐतउ कहउ तेतउ, सुभद्धवंसहं-जन्मण्।
सन्यास-मरणउ अप्प-सरणउ परम रयणनउं गुणु॥"

उपरांत केवली और यंत्र देकर गुटका समाप्त किया गया है। इस तरह इस गुटके का परिचय है। इति उ० सं० ४-६-२३

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

जैनज्योतिष और वैद्यक-ग्रन्थ

अनुपूर्त्ति

(ले०—श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा)

भास्कर के गत अङ्क में "जैनज्योतिष और वैद्यकग्रन्थ" शीर्षक मेरा लेख छपा है, उसमें श्वेताम्बर-वैद्यक-ग्रन्थ कोई प्रकाशित नहीं हुआ लिखा गया था, पर अभी हर्षकीर्ति-कृत योग-चिंतामणि ग्रंथ गुजराती अनुवाद-सहित प्रकाशित देखने में आया है एवं पं० भगवान दास जी (जयपुर) से कई एतद्विषयक अन्य जैनग्रंथों का पता लगा है, अतः नीचे उनकी सूची दी जाती है :—

ज्योतिष-स्वप्न सामुद्रिक-ग्रन्थ

१	भुवनदीपक टीका (रत्नदीपक)	··· खरतर रत्नधीर-कृत सं० १८०६।
२	तिथिसारणी	··· पार्श्वचंद्रगच्छीय बाघ जी मुनि १७८३।
३	प्रश्नव्याकरण (जयप्राभृत)	
४	गार्ग्य संहिता	··· गर्गमुनि (मूल प्रति अपूर्ण, मद्रास ओरियण्टल लायब्रेरी)
५	हस्तकाण्ड	··· पार्श्वचंद्र
६	शकुनावली	··· सिद्धसेन (बड़ौदा)
७	स्वप्नचिन्तामणि	... दुर्लभराज (हमारे संग्रह में भी है)
८	स्वप्नप्रदीप	... वर्द्धमान सूरि (हीरालाल हंसराज-द्वारा मुद्रित)
९	शकुनरत्नावली	... ,, (बड़ौदा)
१०	सामुद्रिक-लक्षण	... लक्ष्मीविजय ,,
११	सामुद्रिक	... अजयराज ,,
१२	,,	... रामविजय ,,
१३	रमलशास्त्र	... भोजसागर ,,
१४	रमलसार	... विजयदान सूरि ,,
१५	सामुद्रिकभाषा	... खर० रामचंद्र सं० १७२२ भेहरा में हिन्दी में रचित (बीकानेर भा०)
१६	ज्योतिः-प्रकाश	

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

गणित

१ ज्योतिष-सारोद्धार चौ० ... आनंदमुनि १७३१
२ लीलावती चौ० ... खर० लाभवर्द्धन १७३६

जैनेतर ग्रन्थों पर जैन टीकाएँ

१ महादेवी-दीपिका ... धनराज
२ जातक दीपिका ... खर० हर्षरत्न सं० १७६५
३ जातकपद्धति ... जिनेश्वरसूरि (जैन ज्ञान-मंदिर, बड़ौदा)
४ विवाह-पटल अर्थ ... खर० विद्याहेम सं० १८३७

दि० ज्योतिष-ग्रन्थ

१ आयसद्भाव प्रकरण ... मल्लिषेण
२ अर्घकांड ... दुर्गदेव मुनि
३ रिट्ठसमुच्चय ... दुर्गददेव सं० १०८९
४ जिनसंहिता ... एकसंधि भट्टारक
५ गणितसार सटिप्पण ... महावीराचार्य

अनुपलब्ध ज्योतिष-ग्रन्थ

१ कालक-संहिता ... कालकाचार्य्य
२ भद्रबाहु संहिता प्रा० ... भद्रबाहु
३ चातुर्मासिक कलंक ४ तिथिकुलक ५ मेघमाला—विजयहीर सूरि

श्वेतांबर वैद्यक-ग्रन्थ

१ वैद्यकसार-संग्रह ... हर्षकीर्त्ति
२ वैद्यमनोत्सव ... अंचल नयनसुख
३ कोकशास्त्र चौ० ... नरबुदाचार्य
४ रसामृतश्री ... माणिक्यदेव

दि० वैद्यक

१ हितोपदेश (गु० अनुवाद-सहित मुद्रित)

जैनेतर वैद्यक ग्रन्थ पर जैन टीका

१ योगशतक टीका, मूल वररुचि टीका समंतभद्र (जैनेतर ?)

नोट—गत अंक में प्रकाशित लेख में पृष्ठ ११४ लाईन तीसरी से ६ ग्रन्थों का नाम 'जैनेतर ग्रंथों पर जैन टीकाएं' शीर्षक के नीचे आना चाहिये। सन्निपात कलिका टबा कर्त्ता हेमनिधान सं० १७५३ और कविप्रमोद सं० १७६६ होना चाहिये।

शास्त्री जी के सूचित ग्रन्थों में १ ज्योतिषसार २ योगचिंतामणि श्वे० ग्रंथ हैं। अष्टांग-हृदय का कर्त्ता जैनेतर है।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

विविध विषय

"नैषधीय चरित" में जैन धर्म का उल्लेख

[१]

संस्कृत साहित्य में 'नैषधीयचरित' का भी अपना खास स्थान है। उसकी गणना कालिदास, भट्टि, भारवि और माघ के महाकाव्यों से भी उच्च कोटि में की जाती है। कहते हैं कि यह श्रीहर्ष की रचना है और उसका समय ईस्वी बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।* इस महाकाव्य में नल-दमयन्ती की कथा सरस रीति से वर्णित है। कवि ने जैनधर्म-विषयक उल्लेख देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके समय में जैनधर्म का प्राबल्य अधिक था। "नैषधीयचरित" के प्रथम सर्ग में इन्होंने लिखा है :—

"चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयैव सैन्धवाः।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन्भूरितुरंगमानपि ॥ ७१ ॥"†

अर्थात्—"जिनेन्द्र भगवान के वचनों में श्रद्धा न रखनेवाले सिन्धुदेश के रहनेवाले जैन लोग विहारस्थल में बहुत से जैनों को बलयाकार बिठाते हैं अर्थात् मध्य में मुनीश्वर बैठते हैं और उनके चारो ओर जैनी बैठते हैं। सो जिस तरह वे बलयाकार बिठाते हैं उसी तरह नल के सैन्यलोक भी अपने घोड़ों को बलायाकार घुमाते हैं।"

इस उल्लेख से दो बातें स्पष्ट हैं (१) जैनों के उपदेश की प्राचीन रीति तब भी प्रचलित थी (२) और तब सिन्धुदेश में जैनधर्म का अच्छा प्रचार था। सिन्धुदेश के इतिहास 'चचनामा' में सातवीं शताब्दी ई० में श्रमणों को सिन्धुदेश का राज्याधिकारी लिखा है।‡ उसमें यह भी लिखा है कि जब मुहम्मद क़ासिम ने सिन्धुदेश पर आक्रमण किया तो श्रमणों ने उससे सन्धि करनी चाही। उन्होंने कहा कि हमारा धर्म शांतिमय है—उसमें हिंसा करना, लड़ना और खून बहाना मना है। उन्होंने यह भी कहा कि हमारे शास्त्रों में यह पहले ही ज्योतिष के आधार पर कह दिया गया है कि अब हिंदुस्तान में (म्लेच्छों) मुसलमानों का राज्य होगा।‡ सिंध् देश के इन श्रमणों के इस कथन से उनका जैनी होना संभव है, क्योंकि उपरांत जैनियों ने अहिंसा के स्वरूप को ऐसे ही विकृत रूप समझे बैठे मिल जाते हैं। जैन ग्रंथों में यह भी घोषित किया गया है कि पंचमकाल में भारत में म्लेच्छों का राज्य होगा। उधर ११वीं-१२वीं शताब्दियों में वहाँ जैनधर्म का प्राबल्य मिलता ही है। परंतु इतिहास-

---

* *Keith*; "Classical Sanskrit Literature" (Heritage of India Series) p.p. 58-59.

†. *Elliot*; History of India (London 1867), p. 147.

‡. Ibid, pp. 158-161.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

लेखक इन श्रमण लोगों को बौद्ध प्रकट करते हैं। अत एव यह आवश्यक है कि तत्कालीन साहित्य 'चचनामा' आदि का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय और देखा जाय कि उनमें श्रमण शब्द किन लोगों के लिये व्यवहृत हुआ है। 'विज्ञप्ति-त्रिवेणी' आदि जैन ग्रंथों से भी सिंधुदेश में जैनधर्म का प्राबल्य स्पष्ट है।

उपर्युक्त उल्लेख के अतिरिक्त "नैषधीयचरित" के सर्ग ९ श्लोक ७१ और सग १३ श्लोकों ३६ में भी जैनधर्म का सामान्य उल्लेख है।

'प्रशंसितुं संसदुपान्तरं जिनम्, श्रिया जयन्तं जगतीश्वरं जिनम्।
गिरः प्रतस्तार पुरावदेवता, दिनान्तसन्ध्यासमयस्य देवता॥"

(नैषध सर्ग १२, श्लो० ८७)

नैषध के इस श्लोक में जैनधर्म का स्पष्ट उल्लेख है।

— का० प्र०

"जैन एन्टीक्वेरी" के लेख

(सितम्बर १९३७)

[२]

१ प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने जैनधर्म में योग का स्थान क्या है? यह बताया है। इस लेख का सार हिंदी भाषा में 'रायचन्द्र-ग्रंथमाला', बम्बई में प्रकाशित 'परमात्म-प्रकाश' की भूमिका में दिया गया है।

२ डॉ० सुकुमार रञ्जन दास, एम०ए०, पी०एच०डी० ने जैनज्योतिष पर लिखते हुए बताया है कि वह ज्योतिष वेदांग के समान है। जैन ज्योतिष में युग पांच वर्षों का माना गया है और उसका प्रारंभ अभिजित नक्षत्र से होता है। इस युग में ६० सौर्यमास, ६१ ऋतुमास, ६२ चान्द्रमास, ६७ नक्षत्रमास होते हैं। एक युग में चन्द्र की अभिजित नक्षत्र से ७ बार भेंट होती है और सूर्य का समागम सिर्फ पाँच दफा होता है। जैनज्योतिष में महीनों के नाम निम्न प्रकार है :—

प्रचलित नाम	जैनग्रंथ	प्रचलित नाम	जैन नाम
१—श्रावण	अभिनंदु	७—माघ	शिशिर
२—भाद्रपद	सुप्रतिष्ठ	८—फाल्गुण	हैमवान्

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

प्रचलित नाम	जैनग्रंथ	प्रचलित नाम	जैन ग्रंथ
३—अश्वयुज	विजय	९—चैत्र	वसन्त
४—कार्तिक	प्रीतिवर्द्धन	१०—वैसाख	कुसुमसंभव
५—मार्गशीर्ष	श्रेयान्	११—ज्येष्ठ	निदाघ
६—पौष्य	शिव	१२—आषाढ़	वनविरोधी

संवत्सर चार प्रकार के हैं (१) नक्षत्र-संवत्सर, ३२७ + $\frac{५}{६२}$ दिन; (२) युग-संवत्सर पाँच वर्ष; (३) प्रमाण-संवत्सर, (४) शनि-संवत्सर। तिथियाँ दिन और रात की अलग हैं।

ऋतुयें पाँच हैं—(१) वर्षा (२) शिशिर (३) हेम (४) वसन्त और (५) गरमी। ऋतुओं का प्रारंभ आषाढ़ मास से होता है। युगसंवत्सर का प्रारंभ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है। कौटिल्य के समय में वर्ष का प्रारंभ आषाढ़ के अंत से होता था।

३ "जैन क्रोनोलोजी" शीर्षक लेख में जैन संघ की पौराणिक-समयानुवर्ती घटनायें अङ्कित हैं।

४ प्रो० शेषगिरि राव ने जैनों के धार्मिक आदर्श पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। वह आदर्श अर्हत् पद को प्राप्त करना है; जिसे आप वैदिक आदर्श 'ब्रह्मसिद्धि' और बौद्धों के आदर्श "निर्वाण-सिद्धि" के अनुकूल समझते हैं। आप की मान्यता है कि जब इन सम्प्रदायों को वेद-बाह्य कहा जाता है तब उनके इस मौलिक सादृश्य को नज़र अन्दाज कर दिया जाता है। इस समय इन प्राचीन धर्मों का अध्ययन समन्वय-दृष्टि से करना आवश्यक है। वेदों में होम शब्द पशुओं के होमने के लिये प्रयुक्त हुआ है—उसके माने आत्मक्षेत्र में कुछ और हो हो जाते हैं। जैनस्तोत्र 'अहमादिभक्तिः' में उसे अहंकार को नाश करनेवाला कहा है। इस स्तोत्र का अंतिम वाक्य 'ब्रह्म विदन्ति परम् ये' हमें औपनिषदिक उक्ति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' की याद दिलाता है। जैनस्तोत्र 'आचार्यभक्ति' में मुक्ति-सौख्य का उल्लेख है। म० बुद्ध का धर्मान्वेषण इसी मुक्ति-सौख्य के लिये था और उन्होंने उसे 'निर्वाण' कहा। कई जैनस्तोत्रों के उद्धरणों से यह बात सिद्ध है। अन्त में प्रो० साहब लिखते हैं कि प्राचीन जैनधर्म वीरतापूर्ण योगमार्ग को मोक्षसुख पाने के लिये आवश्यक ठहराता है। क्या भरतखंड के वैदिक सनातनी देखेंगे कि जिस 'संयमयोग' का विधान जैनस्तोत्र 'वीरस्तुति' में है, ठीक वही शिक्षा 'भगवद्गीता' के प्रारंभिक छै अध्यायों में है?

५ जर्मनी के प्रो० हेल्मुथ फान ग्लासेनप्प ने तांत्रिक बौद्धमतानुयायियों के "आर्यामञ्जु-श्री—मूलकल्प" नामक ग्रंथ के दूसरे परिवर्त में म० ऋषभदेव का उल्लेख हुआ बताया है। इस मण्डल में लिखा है कि :—

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

"कपिल-मुनिर्नाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ-तीर्थङ्करऋषभः निर्ग्रन्थरूपी ।" एक मण्डल की भाग्यरचना में जिन महापुरुषों ने भाग लिया था उनका वर्णन करते हुए बौद्ध ऋषभदेव जैसे महापुरुष को भुला ही कैसे सकते थे ? उक्त ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद सन् ९८०-१००० ई० में हुआ था। ग्यारहवीं शताब्दी में वह तिब्बत की भाषा में अनुवादित किया गया था।

५ जेकोस्लोवेकिया के प्रोफेसर ओटो स्टीन ने स्वर्गीय डा० विन्टरनीज का परिचय दया है। विन्टरनीज का जन्म २३ दिसम्बर १८६३ को आस्ट्रिया के होर्न नामक स्थान पर हुआ था। इन्होंने प्रोफेसर बुल्हर के निकट जैनधर्म की शिक्षा पाई थी। "जैनसाहित्य" का अच्छा परिचय आपने अपने "भारतीय साहित्य के इतिहास" में दिया है। खेद है कि तारीख ९ जनवरी, १९३७ को आप का स्वर्गवास हो गया।

—कामता प्रसाद

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

छट्ठमपुढवीए पंचसत्तभागूणा छरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा सोलसजोयणसहस्स-बाहल्ला वाणउदिसहस्साहिय पंचण्हं लक्खाणमेगूणवंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३१०॥

$$=\frac{५९२०००}{४९}$$

सत्तमपुढवीए छसत्तमभागूणसत्तरज्जुविक्खंभा सत्तरज्जुआयदा अट्ठजोयणसहस्स-बाहल्ला चउदालसहस्साहिय तिण्णं लक्खाणमेगूणपंचासभागबाहल्लं जगपदरं होदि ॥३११॥

$$\frac{३४४०००}{४९}$$

अट्ठमपुढवीए सत्तरज्जुआयदा एक्करज्जुरुंदा अट्ठजोयणबाहल्ला सत्तमभागाहियेयज्जोयण-बाहल्लं जगपदरं होदि ॥३१२॥[1]

$$\frac{८}{७}$$

एदाणि सव्वमेलिदे एत्तियं होदि।

$$=\frac{४३६४०५६}{४९}$$

एदेहिं दोहिं खेत्ताणं विदफलं संमेलिय सयललोयंमि अवणिदे[2] अवसेसं सुद्धायासपमाणं होदि तस्स ठवणा

केवलणाणतिणेत्तं चेत्तीसादिसयभूदिसंपण्णं।
णाभेयजिणं तिहुवणणमंसणिज्जं णमंसामि ॥[३१३]॥

एवमाइरियपरम्परागयतिलोयपण्णत्तीए सामण्णजगसरूवणिरूपणपण्णत्तो
णाम पढमो महाधियारो सम्मत्तो ॥१॥

1 Confusion of Nos. in all the Mss. 2 अवणोदे (?)

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

अजियजिणं जियमयणं दुरितहरं आजवं जवातीदं ।
पणमिय णिरूवमाणं णारयलोयं णिरूवेमो ॥१॥
णिद्दड्ढणिवासखिदिपरमाणं[1] आउदयओहिपरिमाणं ।
गुणठाणादीणं[2] चयसंखाउप्पज्जमाणजीवाणं ॥२॥
जम्मणमरणाणंतरकालपमाणादि एक्कसमयम्मि ।
उप्पज्जणमरणाण य परिमाणं तह य आगमणं ॥३॥
णिरयगदिआउबंधणपरिणामा तह य जम्मभूमीओ ।
णाणादुक्खसरूवं दंसणगहणं सहेदुजोणीओ ॥४॥
एवं पण्णरसविहा यहियारा वण्णिदा समासेण ।
तित्थयरवयणणिग्गयणारयपण्णत्तिणामाए ॥५॥
लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सारं व रज्जुपदरजुदा ।
तेरसरज्जुछेहा किंचूणा होदि तसनाली ॥६॥
ऊणपमाणं दंडा कोडितियं एक्कवीसलक्खाणं ।
बासट्ठिं च सहस्सा दुसया इगिदाल दुतिभाया ॥७॥

३ २ १ ६ २ २ ४ १ २
३

अथवा

उववादमारणंतियपरिणदतसलोयपूरणेण गदो ।
केवलिणो अवलंबिय सव्वजगो[3] होदि तसनाली ॥८॥
खरपंकाप्पबहुला भागा रयणप्पहा य पुढवीणं ।
बहलत्तणं सहस्सा सोल चउसीदि सीदी य ॥९॥

१६००० | ८४००० | ८०००

खरभागो णादव्वो सोलसभेदेहिं संजुदो णियमा ।
चित्तादीओ खिदिओ तेसिं चित्ता बहुवियप्पा[4] ॥१०॥
णाणाविहवण्णाओ महीउ तह सिलातलाओववादा ।
वालुवसक्करसीसयरुप्पसुवण्णाण[5] वइरं च ॥११॥
भयदंबतउरसासयमणिसिलाहिंगुलाणि हरिदालं ।
अंजणपवालगोमज्जगाणि रुजगंकलंबपदराणि ॥१२॥
तह अंबवालुकाओ पलिहं जलकंतसूरकंताणि ।
चंदप्पहवेरुलियंगेरुवचंदस्सलोहिदंकाणि ॥१३॥

1 परिमाणं (i); 2 A गुणठाणाणादीणं; 3 AB सव; 4 B बहू; 5 सुवण्णाणि (i) ।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

बंबय[1] बगमोअसारग्गपहुदीणि विविहवण्णाणि ।
जा[2] होंति त्ति पत्तेणं चित्तेत्ति य वण्णिदो एसो ॥१४॥
पदावं बहलत्तं एक्कसहस्सं हवंति जोयणया ।
तीए हेट्ठा कमसो चेट्ठस रयणा य खिदमही ॥१५॥
तण्णामा वेरुलियं लोहिययंकं [3]असारगल्लं च ।
गोमज्जयं पवालं जोदिरसं[4] अंजणं णाम ॥१६॥
अंजणमूलं अंकं फलिह चंदणं च वज्जगयं[5] ।
बहुला सेलं इय पदाइं पत्तेक्कं इगिसहस्सबहलाइं ॥१७॥
ताण खिदीणं हेट्ठा पासाणं णाम रयणसोलसम[6] ।
जोयणासहस्सबहलं वेत्तासणसण्णिहो संठाउ ॥१८॥
पंकाजिरो दिसदि एवं पंकबहुलभागो वि ।
अप्पबहुलो विभागं सलिलसरूवस्सवो होदि (?) ॥१९॥
एवं बहुविहरयणंपयारभरिदो विराजदे जम्हा ।
रयणप्पहो त्ति[7] तम्हा भणिदा णिउणेहिं गुणणामा ॥२०॥
सक्करवालुवपंका धूमतमा तमतमं च समत्तरियं ।
जेतं (?) अवसेसाओ छप्पुढवीउ गुणणामा ॥२१॥
बत्तीसट्ठावीसं चउवीसं वीस सोलसट्ठं च ।
हेट्ठिमछप्पुढवीणं बहलत्तं जोयणं सहस्सा ॥२२॥
३२००० । २८००० । २४००० । २०००० । १६००० । ८०००

विगुणियछच्चउसट्ठीसट्ठिदुविसट्ठिअट्ठचउवण्णा ।
बहलत्तणं सहस्सा हेट्ठिमपोढवीयछण्णं पि ॥२३॥
१३२००० । १२८००० । १२०००० । ११८००० ।
११६००० । १०८००० ।

पाठान्तरम्

सत्त छिय भूमीउ णवदिसभाएण घणोवही विलग्गा[8] ।
अट्ठमभूमी दसदिसभागेसु घणोवहिं[9] छिवदि ॥२४॥
पुव्वावरदिब्भाए वेत्तासणसंणिहाउ संठाओ ।
उत्तरदक्खिणदीहा अणादिणिहणा य पुढवीओ ॥२५॥

1 S ववबग ; 2 A B जा होंति तिए नेण ; 3 मसारगल्लं (?) ; 4 S जोदिस्सं ; 5 वज्यगर्व (?) ; 6 सेलसमं (?) ; 7 रयणप्पह त्ति (?); 8 S विलया ; 9 S वणोवहिं ।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

चुलसीदीलक्खाणं णिरयबिला होंति सव्वपुढवीसुं ।
पुढविं पडिपत्तेक्कं ताणं पमाणं परूवेमो ॥२६॥

८४०००००।

तीसं पणवीसं-च य पण्णारसं दस तिण्णि होंति लक्खाणि ।
पण्णहिदेक्कं लक्खं पंच य रयणेइ[1] पुढवीणं ॥२७॥

३०००००। २५०००००। १५०००००। १०००००। ३०००००। ८८८८५। ५।

सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाण[2] सेसेसु अप्पबहुलत्तं ।
उवरिं हेट्ठे जोयणसहस्समुज्झीय हवंति [3]पडालकमे (?) ॥२८॥

पढमादिबितिचउक्के पंचमपुढवीए[4] तिचउक्कभागंतं ।
अदिउण्हा णिरयबिला तट्ठियजीवाण तिव्वदाघकरा ॥२९॥

पंचमि खिदिए तुरिमे भागे छट्ठीय[5] सत्तमे महीए ।
अदिसीदा णिरयबिला तट्ठिदजीवाण घोरसीदयरा ॥३०॥

बासीदिं लक्खाणं उण्हबिला पंचवीसदिसहस्सा ।
पण्णत्तरिं सहस्सा अदिसीदि[6] बिलाणि इगिलक्खं ॥३१॥

८२२५००० । १७५००० ।

मेरुसमलोहपिंडं सीदं उण्हे बिलंमि पक्खित्तं ।
ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे मयणखंडं व ॥३२॥

मेरुसमलोहपिंडं उण्हं सीदे बिलम्हि पक्खित्तं ।
ण लहदि तलं पदेसं विलीयदे लवणखंडं व ॥३३॥

अजगजमहिसतुरंगमखरोट्टमज्जारअहिणरादीणं ।
कुधिदाणं गंधेहिं णिरयबिला[7] ते अणंतगुणा ॥३४॥

कक्खकवच्छुरीदो(?) खइरिंगाला तिक्खसूईए ।
कुंजरचिंकारादो[8] णिरयबिला दारुणा तमसहावा ॥३५॥

इंदयसेढीबद्धा पइण्णया य हवंति वियप्पा ।
ते सव्वे णिरयबिला दारुणदुक्खाण संजणणा ॥३६॥

तेरसपक्कारसणवसरापंचतिपक्क इंदया होंति ।
रयणप्पहपहुदीसुं पुढवीसुं आणुपुव्वीए ॥३७॥

१३। ११। ९। ७। ५। ३। १

---

1 AS रयणोइ; 2 बिलाणि; 3 पडल (?); 4 S पुढवीय; 5 छट्ठीए (?); 6 अदिसीद (?); 7 णिरयबिला (?); 8 चिक्कारादो (?)।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

पदमम्हि इंदयम्हि य दिसासु उणवण्णसेढिबद्धा य ।
अडदालं विदिसासुं विदियादिसु एक्कपरिहीणा ॥३८॥

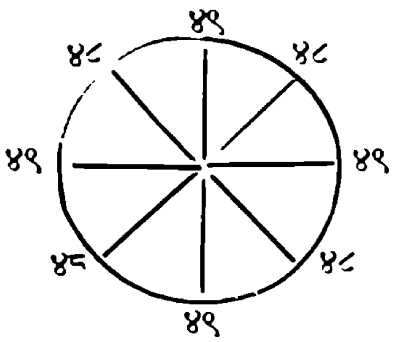

एक्कंततेरसादी सत्तसु ठाणेसु मिलिदपरिसंखा ।
उणवण्णा पदमादो इंदयपडिणामयं होंति ॥३९॥[1]
सीमंतगो य पदमं णिरयो रोरुग य भंतउब्भंता ।
संभंतयसंभंतं[2] विब्भंता तध तसिदा य ॥४०॥
वक्कंतयवक्कंता विक्कंतो होंति पदमपुढवीए ।
थणगो तणगो मणगो वणगो दाघो य संघादो ॥४१॥
जिब्भाजिब्भबगलोला लोलयथणलोलुगाभिधाणा य ।
पदे बिदियखिदीए एक्कारस इंदया होंति ॥४२॥

११

तेत्तो[3] सीदो तवणो तावणणामा णिदाघपज्जलिदो ।
उज्जलिदो संजलिदो संपज्जलिदो य तदिपुढवीए ॥४३॥

९

आरो मारो तारो तच्चो[4] तमगो तहेव वादेय ।
खडखडणामा तुरिमंखोणीए इंदया तस्स ॥४४॥

७

तमभममक्कसयं [5]वाविलतिमिसो दुच्चुपहा छट्ठीए ।
हिमवद्दललल्लक्का सत्तमअवणीए अवधिठाणो त्ति (?)॥४५॥

५ । ३ । १ ।

घम्मादीपुढवीणं पदमिंदयपदमसेढिबद्धाणं ।
णामाणि णिरूवेमो पुव्वादिपदाहिको (?) कमेण ॥४६॥

---

1 ABS 40; 2 A सब्भंत, S सज्झंत; 3 तत्तो(?); 4 S तत्वो; 5 AB वाविंक ।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

कंखापिवासणामा महकंखा यदिपिवासणामा य ।
आदिमसेढीबद्धा चत्तारो होंति सीमंते ॥४७॥
पढमो अणिच्चणामो बिदिओ विज्जो तहा महाणिज्जो ।
महविज्जो य चउत्थो पुव्वादिसु होंति घणगम्हि ॥४८॥
दुक्खा य वेदणामा महदुक्खा तुरिमया अ महावेदा ।
तत्तिंदियस्स एदे पुव्वादिसु होंति चत्तारो ॥४९॥
आरिंदए णिसट्ठो पढमो बिदिओ वि अंजणणिरोधो ।
तत्तिउय अदिणिसत्तो महणिरोधो चउत्थो त्ति ॥५०॥
तमकिंडए णिरुद्धो विमद्दणो यदिणिधुणामो[1] य ।
तुरिमो महाविमद्दणणामो पुव्वादिसु दिसासु ॥५१॥
हिमइंदयम्हि होंति हु णीला पंका य तह य महणीणा ।
महपंका पुव्वादिसु सेढीबद्धा इमे चउरा ॥५२॥
कालो रोरवणामो महकालो पुव्वपहुदिदिब्भाए ।
महरोरउ[2] चउत्थो अवधीठाणस्स चिंतेदि ॥५३॥
अवसेसइंदयाणं पुव्वादिदिसासु सेढिबद्धाणं ।
णत्ताइं णामाइं पढमाणं बिदियपहुदिसेढीणं ॥५४॥
दिसविदिसाणं मिलिदो अट्ठासीदजुदा य तिण्णि सया ।
सीमंतएण जुत्ता उणणवदी समधिया होंति ॥५५॥

३८८ । ३८९ ।

उणणवदी तिण्णि सया पढमाए पढम पंथले[3] होंति ।
विदियादिसु हीअंते माघवियाए पुढं पंच ॥५६॥

३८९ ।

अट्ठाणं पि दिसाणं एक्केक्कं हीयदे जहाकमसो ।
एक्केक्कहीयमाणे परं जियं[4] होंति परिहाणे (?) ॥५७॥
इट्ठिंदियप्पमाणं रूऊणं[5] अट्ठताडिया णियमा ।
उणणवदितिसएसुं अवणिय सेसो हवंति य पडला ॥५८॥

अथवा

इत्थे[6] पदरविहीणा उणवण्णा अट्ठताडिया णियमा ।
सा पंचरूवजुत्ता इच्छिदसेढिदया होंति ॥५९॥

1 वदिणिरुद्ध (?); 2 महरोरवो (?) 3 पथले (?) 4 AB खंरजिग्रं; 5 दूऊणं (?); 6 BS इच्छे ।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

उद्दिट्ठं पंचूणं भजिदं अट्ठेहिं सोधए लद्धं ।
ऊणावरणाहिंतो सेसा तत्थिदया होंति ॥६०॥
आदीओ[1] णिद्दिट्ठा णियणियचरिमिंदयस्स परिमाणं ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं णियणियपदराणि गच्छाणि (?) ॥६१॥
तेणवदिजुत्तदुसया पणजुत्तदुसया सयं च तेत्तीसं ।
सत्तत्तरि सगतीसं तेरस रयणप्पहादि आदीओ ॥६२॥

२९३ । २०५ । १३३ । ७७ । ३७ । १३ ।

तेरसपक्कारसणवसगपंचतियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वट्ठुत्तरमंतं[2] रयणपहाए-पहुदिपुढवीसु ॥६३॥

१३ । ११ । ९ । ७ । ५ । ३ । सव्वदुट्ठर ॥S॥

चयहदमिक्कूणपदं रूवणित्थाए गुणिदवयजुत्तं ।
गुणिदं-वदणेण जुदं पददलगुणिदं हवेदि संकलिदं ॥६४॥
पक्कोणमणाइंदयमट्ठियवभिज्जमूलसंजुत्तं ।
अट्ठगुणं पंचजुदं पुढविंदयताडिदंमि पुढविघणं ॥६५॥
पुढमा इंदयसेढी चउदालसयाणि होंति तेत्तीसं ।
छस्सयदुसहस्साणिं पणणउदी बिदियपुढवीए ॥६६॥

४४३३ । २६९५ ।

तियपुढवीए इंदयसेढी चउदससयाणि पणसोदी ।
सत्तुत्तराणि सत्त य सयाणि ते होंति तुरिमाए ॥६७॥

१४८५ । ७०७ ।

पणसट्ठी दोण्णिसया इंदयसेढीए पंचमखिदीए ।
तेसट्ठी चरिमाए पंचाए होंति णायव्वा ॥६८॥

२६५ । ६३ । ५ ।

पंचादीअट्ठचयं[3] उणवरणा होदि गच्छपरिमाणं ।
सव्वाणं पुढवीणं सेढीबद्धिंदयाण इदमं ॥६९॥
४०१ चयहदमिट्ठादियपदमेक्कादिय[4]इट्ठगुणिदचयहीणं ।
दुगुणिदवदणेण जुदं पददलगुणिदंमि होदि संकलिदं ॥७०॥

1 S आदीउ । 2 S सव्वट्ठुत्तरमंत । 3 AB अट्ठचयं । 4 S-पहट्ठ-।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

अथवा

अट्ठंतालं दलिदं गुणिदं अट्ठेहि पंचरूवजुदं ।
उणवण्णाए पहदं सव्वघणं होइ पुढवीणं ॥७१॥
इंदयसेढीबद्धा णवयसहस्साणि छस्सयाणं पि ।
तेवण्णं अधियाइं सव्वासु वि होंति खोणीसु ॥७२॥

९ ६ ५ ३

णियणियचरिमिंदपयमेक्काणं होदि आदिपरिमाणं ।
णियणियपदरा गच्छा पचया सव्वत्थ अलद्धे व ॥७३॥
बाणउदिजुत्तदुसया दुसयं चउ सयजुदाण बत्तीसं ।
छावत्तरि छत्तीसं बारस रयणप्पहादि आदीउ ॥७४॥

२९२ । २०४ । १३२ । ७६ । ३६ । १२ ।

तेरसपक्कारसणवसगपंचतियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं सेढिघणे सव्वपुढवीणं ॥७५॥
पदवग्गं[1] चयपहिदं दुगुणिदगच्छेण गुणिदमुवजुत्तं ।
वट्टि[2]हदपदविहीणं दलिदं जाणिज्ज संकलिदं ॥७६॥
चयपदमित्थूणपदं

१३३ । ८ ।

रूऊणिच्छाए गुणिदचयं

$\frac{१}{३}$ ८

जुदं

९

दुगुणिदेवादिसुगमं
चत्तारि सहस्साणि य चउस्सया वीस होंति पढमाए ।
सेढिगदा बिदियाए दुसहस्सा छस्सयाण चुलसीदी ॥७७॥

४४२० । २६८४ ।

चोद्दसया छाहत्तरि तदियाए तह य सत्त सया ।
तुरिमाए सट्ठिजुदं दुसताणिं पंचमिए होदि णायव्वं ॥७८॥

१४७६ । ७०० । २६० ।

1 S पदवग्गं ; 2 S वट्टि, छट्टि ?

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

मधुगिरि तालुक में अङ्गडि नामक स्थान से प्रादुर्भूत हुआ था। इसीका प्राचीन नाम शशकपुर रहा। यहाँ पर सळ नाम के सामन्त ने व्याघ्र से एक जैन मुनि की रक्षा करने के कारण पोयिसळ (होयिसळ) नाम प्राप्त किया। विद्वानों का कहना है कि प्रारंभ में यह वंश पहाड़ी था, पीछे विनयादित्य के उत्तराधिकारी बल्लाळ ने अपनी राजधानी शशकपुर से वेलूर में हटाली। द्वारसमुद्र (हळेबीडु) में भी उनकी राजधानी थी। इस वंश के विष्णुवर्द्धन के समय में होयिसळ नरेशों का प्रभाव बहुत ही बढ़ गया था। इसी समय गंगवाडि का पुराना राज्य भी सब उनके अधीन हो गया था और उन्होंने कई प्रदेशों को विजय-द्वारा हस्तगत कर लिया था। प्रारंभ में विष्णुवर्द्धन जैन रहा, किन्तु पीछे वैष्णव हो गया था। पर फिर भी इनकी तथा इनके परिवार-वर्ग की जैनधर्म से सदा सच्ची सहानुभूति रही। होयिसळ राज्य पहले चालुक्य साम्राज्य के अन्तर्गत था, बाद नरसिंह के पुत्र वीरबल्लाळ के समय में यह राज्य स्वतन्त्र हो गया। यह वंश सदा से जैनियों का प्रधान पृष्ठ-पोषक रहा।

उल्लिखित राज्य की राजधानी ग्रन्थकर्त्ता ब्रह्मसूरि जी ने 'क्षत्र-त्रयपुरी' लिखा है। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से इस वंश की राजधानी सिर्फ तीन स्थानों में ही सिद्ध होती है: जिनके नाम क्रमशः (१) शशकपुर (२) बेलूरु (३) और द्वारसमुद्र या हळेबीडु हैं। पता नहीं कि सूरि जी द्वारा निर्दिष्ट क्षत्रत्रयपुरी कहाँ थी और कब इस राज्य के अन्तर्भुक्त हुई। संभव है कि द्वारासमुद्र को ही इन्होंने क्षत्रत्रयपुरी लिखा हो। क्योंकि एक जमाने में यह द्वार-समुद्र जैनियों का केन्द्र सा बन गया था। बल्कि कहा जाता है कि उन दिनों वहाँ साढ़े सात सौ भव्य जिनमन्दिर थे और वैष्णव धर्म स्वीकार करने के बाद विष्णुवर्द्धन ने ही इन भव्य मन्दिरों को तहस-नहस कर दिया। वहाँ के जिनमन्दिरों के ध्वंसावशेष से भी यह पता चलता है कि उल्लिखित घटना वास्तविक है। अब हळेबीडु में केवल आदिनाथ, शान्तिनाथ एवं पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के तीन ही मनोज्ञ मन्दिर रह गये हैं, जो भारतीय शिल्पकला के आदर्शभूत बने हुए हैं। कविवर हस्तिमल्ल जी के सुपुत्र निर्दिष्ट पार्श्वपण्डित के चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। इनमें चन्द्रनाथ और इनके परिवार पीछे हेमावल (होन्नूरु) में जा बसे। अवशिष्ट दो भाई भी अन्यान्य स्थानों में जाकर बस गये। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुए और इन्हीं के सुपुत्र इस त्रैवर्णिकाचार ग्रन्थ के प्रणेता पण्डित ब्रह्मसूरि जी हैं।

सूरि जी ने पूर्वोक्त प्रतिष्ठाग्रन्थगत अपनी वंश-प्रशस्ति में अपने पूर्वजों का निवास-स्थान पाण्ड्य देशान्तर्गत 'गुडिपत्तन द्वीप' बतलाया है। वर्तमान तंजोर जिलान्तर्गत 'द्वीपगुडि' का ही यह प्राचीन 'गुडिपत्तन द्वीप' होना बहुत कुछ सम्भव है। मालूम होता है कि

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

लेखक की कृपा से ही 'दीपन' का 'द्वीप' लिखा गया है। क्योंकि वहाँ पर द्वीप का होना किसी तरह से सिद्ध नहीं होता। इस स्थान में जैनियों का प्रभाव अच्छा रहा है।

जैन समाज के कुछ विद्वान् इस ग्रन्थ को प्रामाणिक मानने के लिये सहमत नहीं हैं। क्योंकि उनका कहना है कि जैन सिद्धान्त के प्रतिकूल श्राद्ध, तर्पण, गो-दान आदि कई बातें इस में विधिरूप में पायी जाती हैं। उन विद्वानों का कहना है कि ब्रह्मसूरि जी के मूल पूर्वज हिन्दू धर्मावलम्बी थे—इससे इनके रचे ग्रन्थ पर हिन्दुत्व की छाप पड़ गयी है। कुछ विद्वान् इस आक्षेप का उत्तर यह देते हैं—प्रत्येक धर्म पर देश, काल आदि का बिना प्रभाव पड़े नहीं रह सकता, इसलिये इस अनिवार्य नियमानुसार बहुत कुछ सम्भव है कि बहुसंख्यक हिन्दू समाज में अपनी सत्ता कायम रखने और हिन्दुओं से सहानुभूति प्राप्त करने के लिये तात्कालिक कुछ जैनग्रन्थ-कर्त्ताओं को कुछ आचार ग्रन्थों में आपद्धर्म के रूप में उनका उद्देश जैनधर्मके अनुकूल बता कर स्थान देना पड़ा होगा।

---

(२५) ग्रन्थ नं० $\frac{२२०}{ख}$

रत्नमञ्जूषा

कर्त्ता— ×

विषय-- छन्द

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौड़ाई ६।।। इञ्च पत्रसंख्या ६५

प्रारम्भिक भाग—

यो भूतभव्यभवदर्थयथार्थवेदी देवासुरेन्द्रमुकुटार्चितपादपद्मः।
विद्यानदीप्रभवपर्वत एक एव तं क्षीणकल्मषगणं प्रणमामि वीरम्॥

मायाका—मायाका इत्यस्य सर्वगुरुत्रिकस्य आकारः संज्ञा भवति ककारो वा स्वरोन्त्यस्तदन्तस्य व्यञ्जनं चेतिवचनात्। सूचिमुखिया इत्याकारस्य भद्रविराड्यिकिरे इति ककारस्य। अत्रैव माया इति गुरुद्वयस्य यकारः संज्ञा भवति व्यञ्जनश्च तदन्तस्येति वचनादेवायिष्टनिति। पुनश्च अत्रैव सा इति गुर्वक्षरस्य सकारः संज्ञा भवति। व्यञ्जनं च

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

तदन्तस्येति वचनादेव। म इति अक्षरे एकस्मिन्नप्यादन्तवद्भावात्। संयोगे नपिमिति। अत्राह—सत्याकारादयस्तेषामेवाक्षराणां संज्ञा यथा वृद्धिरादैजिति वृद्धिसंज्ञा तेषामेवाक्षराणां इति न तद्रूपसंज्ञाकरणे प्रयोजनाभावात्तन्मात्राणाम्। यान्यत्र तेषु त्रिकेष्वक्षराण्युपदिष्टानि तेषां संज्ञाकरणानि प्रयोजनमितितन्मात्राणां सर्वासां संज्ञास्ताः प्रत्यवगन्तव्याः। अथवा शालिनि मालयेदित्यत्र क्रेदवचनं ज्ञापकमन्येषां इति तन्मात्राणां संज्ञा इति। यदि तेषामेव संज्ञा मायाका इति क्रेदवचनमनर्थकं भवति तस्मात्तन्मात्राकरणमेव।

× × × ×

मध्य भाग (पृष्ठ ४९ पंक्ति ३०)

उपेन्द्रवज्रा शरे—यदि शरे इति न्यासो भवति, भवति उपेन्द्रवज्रा नाम।

उपेन्द्रवज्रायुतपाण्डवेषु स्थितेष्वपि ख्यातपराक्रमेषु।
पुराभिमन्युं यदि नेज्जयेन्नो जयद्रथो रक्षति कङ्कमन्यः॥

इन्द्रमाला द्वयम्—यदीन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रे सहैकस्मिन् श्लोके भवतः,भवति इन्द्रमाला नाम।

अम्लानमाला सुरसुन्दरीभिः वृतेन्द्रमाला च्यवते दिवश्चेत्।
कालेन नार्या इव भुक्तमाला मर्त्या वयं किं जलबुद्बुदाभाः॥

दोधकं लुप्ते—यदि लुप्ते इति न्यासो भवति, भवति दोधकं नाम।

कालविधाविव नाटकवृत्तं दर्शयितुं भुवि सर्वजनेभ्यः।
अम्बररंगमसौ गिरिकूटात् सूर्यनटः प्रविशन्निव भाति॥

रथोद्धता तिलौ—यदि तिलाविति न्यासो भवति, भवति रथोद्धता नाम।

सर्वभावविधितत्त्वदर्शिनः सर्वसत्त्वहितधर्मदेशिनः।
अर्हतोऽहमघराशिनाशिनः संस्तुवे त्रिभुवनप्रकाशिनः॥

स्वागता तिले—यदि तिले इति न्यासो भवति, भवति स्वागता नाम।

धर्मतीर्थकरमुख्य नमस्ते नाथ नष्टभवबीज नमस्ते।
बद्धसर्वजनवृत्त नमस्ते हेमनाभजिनमान नमस्ते॥

× × × ×

अन्तिम भाग :—

एकद्व्यादिलगक्रियांकसमसंख्यानेषु कोष्ठान्तरे-
ष्वेकादीन्द्विगुणानधो विरचयेत्तांश्चोर्ध्वमेकोनकान्।
इत्यन्तावधिमेरुरेष महितः स्याद्वर्धमानाह्वयः
छन्दःस्वेकलगादिवृत्तजननस्थानं त्विह ज्ञायते॥९॥

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

एकद्व्यादिलगक्रियास्तगणनामानप्रमाणालयै-
र्मेरुक्ष्माधरवद्विरच्य खटिकोत्कीर्णैरथाद्यालये ।
वृत्तं न्यस्य तदादिमं द्विगुणयंस्तस्याप्यधः स्थापये-
देकोनेन तदोपरि परिलिखेदेवं हि मेरुक्रिया ॥१०॥

खण्डमेरुप्रस्तारो यथा—

सैकामेकगणोज्ज्वलामभिमतच्छन्दोऽक्षरागारिका-
मेकां श्रीणिमुपक्षिपन्नधरतोऽप्येकैकहीनाश्च ताः ।
ऊर्ध्वं द्विद्विगृहांकमेलनमधोधः स्थानकेष्वालिखे-
देकच्छन्दसि खण्डमेरुरमलः पुंनागचन्द्रोदितः ॥११॥

एतत्पद्योक्तक्रमेण प्रस्तारे कृते विवक्षितछन्दसः लगक्रियया सह ततः पूर्वस्थितसकल-छन्दसां लगक्रियाः सर्वाः समायान्तीत्यर्थः ॥

(इनके नीचे प्रस्तार के तीन कोष्ठक भी हैं)

दिगम्बर जैन-साहित्य-भाण्डार में छन्दोग्रन्थ-सम्बन्धी अजितसेन के छन्दःशास्त्र, वृत्तवाद एवं छन्दःप्रकाश, आशाधर के वृत्तप्रकाश, चन्द्रकीर्त्ति के छन्दःकोष (प्राकृत) एवं वाग्भट के प्राकृतपिङ्गल सूत्र ये ही नाम मिलते हैं। परन्तु इन में अभीतक कोई ग्रन्थ मुद्रित नहीं हुआ है। अब रही प्रस्तुत पुस्तक 'रत्न-मंजूषा' की बात। पं० नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा संगृहीत "दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" इस ग्रन्थतालिका में इसके कर्त्ता हेमचन्द्र कवि बतलाये गये हैं। परन्तु इस छन्दोग्रन्थ के अन्तिम भाग के अन्तिम श्लोकान्तर्गत 'पुन्नागचन्द्रोदितः' इस वाक्य से तो ज्ञात होता है कि पुंनागचन्द्र या नागचन्द्र ही इसके प्रणेता हैं। प्रेमी जी के कथनानुसार अगर इस 'रत्नमंजूषा' के रचयिता हेमचन्द्र कवि होते तो 'पुन्नागचन्द्रोदितः' के स्थान पर बड़ी आसानी से 'श्रीहेमचन्द्रोदितः' लिख देते। क्योंकि ऐसा करने से छन्दोभंग का उन्हें जरा भी भय नहीं रह जाता था। साधनाभाव से इस समय इसके कर्त्ता के बारे में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जा सका। यदि थोड़ी देर के लिये अर्थात् प्रेमी जी ने किस आधार पर इस का कर्त्ता हेमचन्द्र कवि लिखा है—यह बात जब तक स्पष्ट नहीं होती तब तक के लिये नागचन्द्र को ही इसका प्रणेता माना जाय तो महाकवि धनंजय-कृत विषापहार-स्तोत्र के संस्कृत टीकाकार कवि नागचन्द्र* की ओर मेरी दृष्टि कुछ कुछ आकृष्ट हो जाती है। पर यह एक अनुमान

* देखें—'प्रशस्ति-संग्रह' पृष्ठ ३७।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

मात्र है। जब तक इस सम्बन्ध में कोई सबल प्रमाण नहीं मिलता है तबतक इसे कोई मानने को तैयार कैसेंकर हो सकता है ?

अब रहा इस छन्दोग्रन्थ का विषय। यह ग्रन्थ छोटे छोटे आठ अध्यायों में विभक्त है। इस प्रति की मैसूर राजकीय 'प्राच्यपुस्तकागार' से मैंने ही कन्नड लिपि से नागराक्षर में प्रतिलिपि कराई थी। इसके अष्टम अध्याय का कुछ अंश लुप्त सा ज्ञात होता है। इस लुप्तांश के बाद ही तीन पृष्ठों में मेरुसम्बन्धी प्रस्तार के पद्यबद्ध लक्षण सकोष्ठक दिये गये हैं। कवि ने इस ग्रन्थ में प्रायः प्रत्येक छन्द पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसके छन्दो-लक्षण पिंगलसूत्र के समान सूत्रमय है जो नितांत स्वतन्त्र है। छन्दों के दिये गये दृष्टांतों में यत्र-तत्र जैनत्व की झाप सुस्पष्ट प्रतिभासित होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस के कर्त्ता काव्यशास्त्र के एक उद्भट मर्मज्ञ थे। इसकी अन्यान्य प्रतियाँ जहाँ तहाँ से अन्वेषण एवं मिलान कर इस रत्नभूत 'रत्नमंजूषा' के प्रकाशन से दिगम्बर जैनसाहित्य के एक अङ्ग की पूर्त्ति हो जायगी। अन्यान्य पुस्तक-प्रकाशन-संस्थाओं और जैन परीक्षालयों को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। क्योंकि आजतक सभी जैन परीक्षालयों के पाठ्य ग्रन्थों में जैनेतर छन्दोग्रन्थ ही समाविष्ट होते आ रहे हैं।

---

(२६) ग्रन्थ नं० $\frac{२३७}{ख}$

सरस्वतीकल्प

कर्त्ता—मलयकीर्त्ति

विषय—मंत्रशास्त्र

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६।।। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या ७

प्रारम्भिक भाग—

बारहअंगं गिज्जा दंसणनिलया चरित्तवट्टहरा।
चउदसपुव्वाहरणा ठावे दव्वाय सुद्देवी ॥
आचारशिरसं सूत्रकृतवक्त्रां (सरस्वतीं) सकर्णिकाम्।
स्थानेन समयोद्घ (स्थानांगसमयांघ्रि तां) व्याख्याप्रज्ञप्तिदोर्लताम् ॥

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

वाग्देवतां ज्ञातृकथोपासकाध्ययनस्तनीम् ।
अन्तकृद्दशसन्नाभिमनुत्तरदशांगताम् ॥
सुनितम्बां सुजघनां प्रश्नव्याकरणाश्रिताम् ।
विपाकसूत्रकृद्द्वयचरणां चरणाम्बराम् ॥
सम्यक्त्वतिलकां पूर्वचतुर्दशविभूषणाम् ।
तावत्प्रकीर्णकोद्दीर्णचारुपत्राङ्कुरश्रियम् ॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ३, पंक्ति ७)—

स्याद्वादकल्पतरुमूलविराजमानां रत्नत्रयाम्बुजसरोवरराजहंसीम् ।
अङ्गप्रकीर्णकचतुर्दशपूर्वकायामाम्नायवाङ्मयवधूमहमाह्वयामि ॥

शारदाभिमुखीकरणम्—

अविरलशब्दमहौघा प्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितम् ॥
ॐ ह्रीं श्रीं मन्त्ररूपे विबुधजननुते देवि देवेन्द्रवन्द्ये
चञ्चच्चन्द्रावदाते क्षपितकलिमले हारनीहारगौरे ।
भीमे भीमाट्टहासे भवभयहरणे भैरवि भीरु धीरे
ह्रां ह्रीं ह्रूं कारनादे मम मनसि सदा शारदे तिष्ठ देवि ॥

× × × ×

अन्तिम भाग—

परमहंसहिमाचलनिर्गता सकलपातकपंकविवर्जिता ।
अमितबोधपयःपरिपूरिता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
परममुक्तिनिवाससमुज्ज्वलं कमलयाकृतवासमनुत्तमम् ।
वहति या वदनाम्बुरुहं सदा दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
सकलवाङ्मयमूर्त्तिधरा परा सकलसत्त्वहितैकपरायणा ।
.....नारदतुम्बुरुसेविता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
मलयचन्दनचन्द्ररजःकणा प्रकरशुभ्रदुकूलपदावृता ।
विशदहंसकहारविभूषिता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥
मलयकीर्त्तिकृतामितिसंस्तुतिं (पठति यो) सततं मतिमान्नरः ।
विजयकीर्त्तिगुरुकृतमादरात् स मतिकल्पलताफलमश्नुते ॥

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

इस 'सरस्वतीकल्प' के अन्तिम पद्य से इसके रचयिता मलयकीर्त्ति ज्ञात होते हैं। साथ ही साथ इसी पद्य से यह भी विदित होता है कि यह मलयकीर्त्ति प्रायः विजयकीर्त्ति-गुरु के शिष्य हैं। पर "विजयकीर्त्तिगुरुकृतमादरात्" इस चतुर्थ चरण का सम्बन्ध किसके साथ है—यह अभी ठीक नहीं समझ पड़ता। बहुत कुछ संभव है कि इस श्लोक की प्रतिलिपि करने में लेखक ने भूल की हो। इसलिये जबतक इसकी शुद्ध प्रति नहीं मिलती तबतक सन्देह-निवृत्ति होती नहीं दीख पड़ती।

अस्तु, 'एपिग्राफिका कर्नाटिका' जिल्द ८ के शिलालेख नं० १०४ में एक विजयकीर्त्ति-गुरु का उल्लेख मिलता है। मलयकीर्त्ति के द्वारा प्रतिपादित विजयकीर्त्तिगुरु यदि यही हों तो उक्त शिलालेख के ही आधार से इनका समय सन् १३५४ अर्थात् १४ वीं शताब्दी सिद्ध होता है।* अतः इस सरस्वतीकल्प के रचयिता मलयकीर्त्ति का समय भी लगभग यही होना चाहिये। अस्तु, अर्हद्दास-रचित भी एक 'सरस्वतीकल्प' सुना जाता है। वह इससे भिन्न होना चाहिये। इस कृति के आदि और अन्त में 'सरस्वतीकल्प' लिखा मिलता है। मन्त्रशास्त्र में कल्प का लक्षण यों बतलाया है—जिन ग्रन्थों में मन्त्र-विधान, यन्त्र-विधान, मन्त्र-यन्त्रोद्धार, बलिदान, दीपदान, आह्वान, पूजन, विसर्जन और साधनादि बातों का वर्णन किया गया हो वे ग्रन्थ 'कल्प' कहलाते हैं।† प्रधानतया इस प्रस्तुत कृति को एक मंत्र-स्तोत्र ही कहना चाहिये। फिर भी यन्त्रोद्धार, जाप्य एवं होममन्त्र आदि का इसमें उल्लेख पाया जाता है—इसी से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता ने कल्पनाम की सार्थकता समझी होगी। मंत्रशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये इसके निम्नलिखित कतिपय श्लोक उपयोगी हैं :—

"जाप्यकाले नमःशब्दं मन्त्रस्यान्ते नियोजयेत्।
तदन्ते होमकाले तु स्वाहा शब्दं नियोजयेत्॥
सवृन्तकं समादाय प्रसूनं ज्ञानमुद्रया।
मन्त्रमुच्चार्य सन्मन्त्री मुञ्चेदुच्छ्वासरेचनात्॥
महिषाक्तगुग्गुलेन प्रविनिर्मितचणकमात्रवटिकानां।
मधुरत्रययुक्तानां होमैर्वांगीश्वरी वरदा॥
दिक्कालमुद्रासनपल्लवानां भेदं परिज्ञाय जपेत् स मन्त्री।
न चान्यथा सिध्यति तस्य मन्त्रः कुर्वन् सदा तिष्ठतु जाप्यहोमम्॥

---

* देखें— 'मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक' पृष्ठ ३११

† मन्त्रशास्त्र के विषय में विशेष बात जानने के इच्छुक विद्वान् भास्कर भाग १, किरण ३ में प्रकाशित 'जैनमन्त्र-शास्त्र' शीर्षक लेख देखें।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

द्वादशसहस्रजाप्यैर्दशाङ्गहोमेन सिद्धिमुपयाति ।
मन्त्रो गुरुप्रसादात् ज्ञातव्यस्त्रिभुवने सारः ॥
अकारोऽनन्तवीर्यात्मा रेफो विश्वावलोकदृक् ।
हकारः परमो बोधो बिंदुः स्यादुत्तमं सुखम् ॥
नादो विश्वात्मकः प्रोक्तो बिन्दुः स्यादुत्तमं पदम् ।
कलापीयूषनिःस्यन्दीत्याहुरेवं जिनोत्तमाः ॥"

इसकी रचना साधारणतया अच्छी है।

---

(२७) ग्रन्थ नं० २४१/ख

वज्रपंजराधना-विधान

कर्त्ता— ×

विषय—आराधना

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६।।। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या ६

प्रारम्भिक भाग —

चन्द्रपुराम्बुधिवन्द्रं चन्द्रार्कं चन्द्रकान्तसंकाशम् ।
चन्द्रप्रभजिनमंवे कुन्देन्दुस्फारकीर्त्तिकान्तोशान्तम् ॥
ॐ ह्रीं चन्द्रप्रभ जिनदेवागच्छ—
तीर्थोपनीतैर्घनसारशीतैः पातप्रपाद्यैः घुसृणाद्युपेतैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥
ओं ह्रीं चन्द्रप्रभजिनदेवाय जलं निर्वपामीतिस्वाहा ।
सुगन्धसारैर्घनगन्धसारैः सिताभ्रभारैः सितधामगौरैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥ गन्धम्
शाल्यक्षतैरक्षतमोक्षलक्ष्मीकटाक्षविक्षेपवलक्षकक्षैः ॥
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥ अक्षतान्

× × × ×

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

वैद्य-सार

पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

इसका काली मिर्च तथा महुए के फूल के साथ सेवन करने से तेरह प्रकार का सन्निपात दूर हो जाता है। इस गोली को एक मास तक लगातार सेवन करने से सब प्रकार की व्याधि शांत हो जाती है। यह श्रीपूज्यपाद स्वामी की कही हुई प्रभावती बटी है।

११६—ज्वरादौ लघुज्वरां-कुशः

रसगंधकताम्राणां प्रत्येकं चैकभागकम्।
खल्वे सूर्याग्निभागांशं हयारिं धूर्तबीजयोः ॥ १ ॥
मातुलुंगरसेनैव मर्दयेद्वासर-त्रयम्।
कासमर्दकतोयेन सिद्धोऽयं जायते रसः ॥ २ ॥
निंबमज्जार्द्रकरसैः वल्लो देयः त्रिदोषजित्।
ज्वरे दध्योदनं पथ्यं शाकः स्यात्तण्डुलीयकः ॥ ३ ॥
सर्वज्वरविषघ्नोऽयं चानुपानविशेषतः।
लघुज्वरांकुशो नाम पूज्यपादेन भाषितः ॥ ४ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, तांबे की भस्म, ये तीनों एक एक भाग, शुद्ध कनेर की जड़ १२ भाग एवं शुद्ध धतूरे के बीज ३ भाग इन सब को एकत्रित कर बिजोरा नीबू और कसौंदन के रस में ३ दिन तक मर्दन कर एक एक रत्ती की गोली बांध लेवे, फिर नीम की निबोड़ी की गिरी तथा अदरख के साथ तीन गोली देवे तो त्रिदोषज ज्वर भी शान्त होवे। इस रस के ऊपर दही भात का भोजन करना तथा चौलाई का शाक खाना चाहिये। यह लघु ज्वरांकुश अनुपान-भेद से सब ज्वरों को नाश करनेवाला श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

११७—अनेकरोगे त्रिलोक-चूड़ामणि-रसः

पारदं टंकणं तुल्यं विषं लांगलिकं तथा।
पुत्रजीवस्य मज्जा च गंधकं गुंजपत्रकम् ॥१॥
देवदाल्या रसैर्मर्द्यः त्रिपादीरसमर्दितः।
विष्णुकांतानागदंतीधत्तूरनागकेशरैः ॥२॥
मर्दनं दिनमेकं तु वटबीजप्रमाणकम्।
जंबीररसतो लेह्यं पानलेपननस्यके ॥३॥

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

अंजनं सर्वकार्ये वा ज्वरज्वालाशताकुले।
ब्रह्मराक्षसभूतादिशाकिनीडाकिनीगण-॥४॥
कालवज्रमहादेवीमदमातंगकेशरि—
वृषभादिं सुसंस्थाप्य श्रीदेवीश्वरसूरिणम्॥५॥
पूजनं चाशु कृत्वा च यथायोग्यं प्रकल्पयेत्।
कथितोऽयं त्रिलोकस्य चूड़ामणिमहारसः ॥६॥
पार्श्वनाथस्य मंत्रेण स्तंभोभवति तत्क्षणम्।
पूज्यपादेन कथितः सर्वमृत्युविनाशनः ॥७॥

टीका—शुद्ध पारा, सुहागे की भस्म, तूतिया की भस्म, शुद्ध विष, लांगली (कलिहारी) की जड़, जियापोता की रींगी, शुद्ध आँवलासार गंधक तथा गुंजावृक्ष के पत्ते इन सब को बराबर-बराबर लेकर पहले पारे, गंधक की कज्जली बनावे; पीछे और सब दवाइयाँ अलग अलग कूट-कपड़-छन करके मिलावे तथा देवदाली, हंसराज, हुलहुल नागदौन, धतूरा, नागकेशर इन सबके स्वरस से अथवा क्वाथ से एक-एक दिन अलग घोंटे और बट के बीज-समान गोली बनाकर जंभीरी के रस के साथ सेवन करावे। मूर्छावस्था में नास भी देवे, आवश्यकता आने पर या सन्निपात की दशा में अञ्जन भी लगावे। इसका सेवन करने से कठिन से कठिन ज्वर भी शांत होता है। इसका जब सेवन करे तब ब्रह्मराक्षस, डाकिनी, शाकिनी इत्यादि व्यन्तर-रूपी मातंग के लिये सिंह सदृश श्रीजिनेन्द्र देव की स्थापना करके पूजन करे तो शीघ्र ही लाभ होता है और श्रीपार्श्वनाथ स्वामी के मंत्र से तो उसी क्षण रोग का स्तम्भन होता है। यह तीन लोक का शिरोमणि त्रिलोक चूड़ामणि रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ अपमृत्यु का नाश करनेवाला है।

११८—सर्वज्वरे ज्वरांकुशरसः

पारदं गंधकं ताप्यं टंकणं कटुकत्रयम्।
चित्रकं निंबबीजानि यवक्षारं च तालकम् ॥१॥
एरंडबीजसिंधूत्थं हारीतक्यं समांशकम्।
शुद्धस्य वत्सनाभस्य पंचभागं च निक्षिपेत् ॥२॥
जैपालं द्विगुणं चैव निर्गुण्ड्याः मर्दयेद्द्रवैः।
दशवीहिसमो देयः सर्वज्वरगजांकुशः ॥३॥
पृथिव्या चाजमोदेन पिष्टैश्च सहितं जलैः।
ज्वरान्विष्वपि रोगेषु सर्वेषु हितकृद्भवेत् ॥४॥

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

अनुपानविशेषेण सर्वरोगेषु योजयेत् ।
पथ्या शुंठी गुडं चानु चार्शरोगे प्रयोजयेत् ॥५॥
क्षीरान्नमाज्यं भुंजीत शिग्रुतोयेन पाययेत् ।
आर्द्रकस्य रसेनापि यथादोषविशेषिते ॥६॥
शीतज्वरे सन्निपाते तुलसीरससंयुतः ।
मरिचेन सहितश्चासौ सर्वज्वरविषापहः ॥७॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, सोने की भस्म, सुहागा, सोंठ-मिर्च, पीपल, चित्रक, नीम के बीज, जवाखार, तवकिया हरताल की भस्म, अरंडी के बीज, सेंधा नमक, बड़ी हर्र का छिलका ये सब बराबर-बराबर लेवे और शुद्ध वच्छनाग, पाँच भाग, शुद्ध जमालगोटा २ भाग, इन सब को एकत्रित कर के नेगड़ के स्वरस में घोंटे एवं दस-दस चावल के बराबर बड़ी इलायची तथा अजमोदा के पानी के साथ देवे तो सब प्रकार के ज्वर शांत होवे। यदि बवासीर रोग में देना हो तो हर्र, सोंठ, गुड़ का अनुपान देवे और दूध-भात का भोजन करावे। शीतज्वर में मुनक्का के काढ़े से तथा अदरख के के साथ, सन्निपात में तुलसी के रस के साथ एवं विषमज्वर में काली मिर्च के साथ देवे। यह रस सर्व ज्वरों को नाश करता है।

११६—प्रमेहे बंगेश्वररसः

सूतं च बंगभस्मं च नाकुलीबीजमभ्रकम् ।
शिलाजतु लौहभस्म कनकं कतकबीजकम् ॥१॥
गुडूचीत्रिफलाक्काथैः मर्दयेद्गुटिकां दिनं ।
बंगेश्वररसो नाम चानुपानं प्रकल्पयेत् ॥२॥
कपित्थफलद्राक्षा च खर्जूरीयष्टिकेन च ।
नष्टेन्द्रियं च दाहं पित्तज्वरपथश्रमम् ॥३॥
मेहानां मज्जदोषाणां नाशको नात्र संशयः ।
सर्वप्रमेहविध्वंसी पूज्यपादेन भाषितः ॥५॥

टीका—शुद्ध पारे की भस्म, बंगभस्म, रासना के बीज, अभ्रक-भस्म, शुद्ध शिलाजीत, लौह भस्म, सोने की भस्म, कतक के बीज, निर्मली इन सब का एकत्रित कर के गुर्च तथा त्रिफला के काढ़े से दिन भर मर्दन करे तो यह बंगेश्वर रस तैयार हो जाता है। इसको सेवन कराने के लिये वैद्यगण अनुपान की कल्पना करें अथवा कवीट, मुनक्का, खजूर,

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

मुलहठी इन सब के अनुपान से उसको सेवन करावे। इसके सेवन कराने से इन्द्रिय की कमजोरी, दाह, पित्तज्वर, मार्ग में चलने की थकावट, सर्व प्रकार के प्रमेह, मज्जा, धातु के दोष इन सब को नाश करनेवाला है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। यह सब प्रकार के प्रमेहों को दूर करनेवाला श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२०—सर्वज्वरे मृत्युञ्जयरसः

रसगंधकौहि जयपालः तालकश्च मनःशिला।
ताम्रश्च माक्षिकः शुंठीमुसलीरसमर्दितः ॥१॥
कुक्कुटे च पुटे सम्यक् पक्तव्यः मृदुवह्निना।
स्वांगशीतलमुद्धृत्य गुंजामात्रप्रमाणकम् ॥२॥
शुद्धशर्करया खादेत् शीततोयानुपानतः।
पथ्ये क्षीरं प्रयोक्तव्यं दधि वापि यथारुचि ॥३॥
संततादिज्वरघ्नोऽयमनुपानविशेषतः।
मृत्युञ्जयरसश्चासौ पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध जमालगोटा, हरताल भस्म, शुद्ध मैनशिल, तामे की भस्म, शुद्ध सोनामक्खी, सोंठ इन सब को मुसली के रस से मर्दन करे तथा कुक्कुट पुट में पाक करे और ठंढ़ा होने पर निकाल कर एक-एक रत्ती के प्रमाण से मिसरी की चासनीके साथ शीतल जलके अनुपान से सेवन करावे। पथ्य में दूध देवे तथा रोगी को अरुचि होवे तो दधि भी खिलावे (?)।यह संततादि ज्वरों को नाश करनेवाला मृत्युञ्जय रस पूज्यपाद स्वामीने कहा है।

मतान्तर

ताप्यतालकनेपाल-वत्सनाभं मनःशिला। ताम्रगन्धकसूताश्च मुसलीरसमर्दिताः ॥
मृत्युञ्जय इति ख्यातः कुक्कुटीपुटपाचितः। वल्लद्वयम् प्रभुंजीत यथेष्टं दधि भोजनम् ॥
नवज्वरं सन्निपातं हन्यादेष महारसः ॥

१९ तरहका मृत्युञ्जय रस है यह १४ के पाठ से मिलता है। एक चीज का फर्क है, इस में सोंठ है उसमें सिंगिया लिखा है। इस ग्रन्थ के रस रसरत्न-समुच्चय, रससुधाकर, रसपारिजात से अधिक मिलते हैं। रसरत्नसमुच्चय बौद्धों का बनाया हुआ ग्रन्थ प्रसिद्ध है; मुमकिन है यह उसी समयका हो।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

१२१—शीतज्वरे शीतभंजरसः

पारदं रसकं तालं शिला तुत्थं च टंकणम् ।
गन्धकं च समं पिष्ट्वा कारवेल्ल्या रसैर्दिनम् ॥ १ ॥
शिग्रुमूलरसैः पिष्ट्वा निर्गुण्डी स्वरसेन च ।
ताम्रपत्रे प्रलिप्वा च भाण्डे पत्रमधोमुखम् ॥ २ ॥
कृत्वा रुद्ध्वा मुखं तस्य वालुकाभिः प्रपूरयेत् ।
पश्चादग्निना तुल्या ताम्रपत्रस्य रक्तता ॥ ३ ॥
एवं पुटत्रयं दद्यात् स्वांगशीतलमुद्धरेत् ।
ताम्रपत्रं समुद्धृत्य चूर्णयेन्मरिचं समम् ॥ ४ ॥
शीतभंजरसो नाम पर्णखंडरसेन च ।
शीतज्वरविषघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥ ५ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध खपरिया की भस्म, हरताल की भस्म, शुद्ध शिला, शुद्ध तूतिया की भस्म, टंकण भस्म, शुद्ध गन्धक इन सबको बराबर-बराबर लेकर खरल में एकत्रित करके करेले के पत्तों के रस से एक दिन भर घोंटे तथा एक दिन सुनगा के स्वरस से घोंटे, एक दिन नेगड़ के रस से घोंटे और शुद्ध पतले तामे के पत्रों पर लेप करके एक हंडी में रख कर नीचे को मुख करके उसका मुख बन्द करके बाकी की जगह बालू से पूर्ण कर नीचे से अग्नि जलावे, जब वह तामे का पत्र लाल वर्ण हो जाय तब निकाल लेवे। इस प्रकार तीन पुट देवे, जब ठीक पाक हो जाय तामे के पत्रों को निकाल कर सब चूर्ण बना कर रख लेवे और काली मिर्च बराबर मिला कर पान के रस के साथ यथा योग्य मात्रा से यह शीतज्वर रूपी विष को नाश करनेवाला शीतभंज रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२२—श्वासादौ अमृतसंजीवनो रसः

सूतश्च गन्धको लौहो विषश्चित्रकपत्रकौ ।
विडंगं रेणुका मुस्ता चैला ग्रन्थिककेशरौ ।
त्रिकटुस्त्रिफला चैव शुल्वभस्म तथैव च ॥
एतानि समभागानि द्विगुणं गुड़मेव च ।
तोलप्रमाणवटिकाः प्रातःकाले च भक्षयेत् ॥
श्वासे कासे क्षये मेहे शूलपांडुगुदांकुरे ।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

चतुरशीतिवातेषु योजयेन्नात्र संशयः ॥
अमृतसंजीवनो नाम पूज्यपादेन भाषितः ॥ ४ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, लौह भस्म, शुद्ध विष, चित्रक, तेजपत्र, वायविडंग, रेणुका बीज, नागर मोथा, छोटी इलायची, पीपरामूल, नागकेशर, सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला, तामे की भस्म, इन सबका बराबर-बराबर लेकर सबके दुगुना पुराना गुड़ लेकर गोली बनावे तथा प्रातःकाल में अनुपान-विशेष से सेवन करे तो श्वास, खांसी, राजयक्ष्मा, प्रमेह, शूलोदर, पांडु रोग, बवासीर तथा ८४ प्रकार के वायु रोग शांत होते हैं। यह अमृतसंजीवन रस भी पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२३—विबंधे नाराचरसः

अष्टौ निस्तुषदंतिबीजशुद्धं भागत्रयं नागरं।
द्वे गंधे मरिचं च टंकणरसौ भागैकमैकं पृथक् ॥
गुञ्जामात्रमिदं विरेचनकरं देयं च शीतांबुना।
गुल्मप्लीहमहोदरादिशमनो नाराचनामा रसः ॥ १ ॥

टीका—आठ भाग शुद्ध जामालगोटाके बीज तीन भाग सोंठ, दो भाग शुद्ध गन्धक, काली मिर्च, सुहागा, शुद्ध पारा एक-एक भाग खरल में डाल कर खूब घोंटे तथा एक-एक रत्ती की मात्रा से शीतल जलके अनुपान से सेवन करावे तो इस से गुल्म, प्लीहा और उदर-रोग शांत होता है।

१२४—शीतज्वरे शीतमातंगसिंहरसः

रसविषशिखि तुत्थं खर्परं चैकभागम्।
अनलद्विकसमानभागमेतत्क्रमेण ॥
कनकदलरसेन पीतगुंजैकमात्रः।
परिमितगुटिकः स्यात् शीतमातंगसिंहः ॥ १ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विषनाग तूतिया की भस्म, खपरिया भस्म एक-एक भाग, चित्रक दो भाग इन सब को एकत्रित करके धतूरेके रस से घोंटे तथा एक-एक रत्ती प्रमाण सेवन करे तो इससे शीतज्वर दूर होवे।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

१२५—ज्वरादौ प्राणेश्वररसः

भस्म सूतं यदा कृत्वा मात्तिकं चाभ्रसत्त्वकम् ।
शुल्वभस्मापि संयोज्य भागसंख्याक्रमेण च ॥
तालमूलीरसं दत्त्वा शुद्धगंधकमिश्रितम् ।
मर्दयेत् खल्वमध्ये च नितरां यामयोर्द्वयम् ॥
निक्षिप्य काचकूप्यां च मुद्रया कूपिकां तथा ।
खटिकामृदं समादाय लेपयेत् सप्तवारकम् ॥
विपरीतं परिस्थाप्य पूरयेत् वालुकामयम् ।
यंत्रं प्रज्वालयेद्यामं चतुरो वह्निना पुनः ॥
सिध्यते रसराजेन्द्रो बलिपूजाभिरर्चयेत् ।
अनुपानं तदा देयं मरिचं नागरं तथा ॥
त्रिफारं पंचलवणां रामठं चित्रमूलकम् ।
अजमोदं जीरकं चैव शतपुष्पाचतुष्टयम् ॥
चूर्णयित्वा तथा सर्वं भक्षयेच्चानुवासरं ।
रसराजेन्द्रनामायं विख्यातो प्राणिशांतिकृत् ॥
अयं प्राणेश्वरो नाम प्राणिनां शांतिकारकः ।
प्राणनिर्गमकालेऽपि रक्षकः प्राणिनां तथा ।
भक्षयेत् पर्णखण्डेन कदूष्णेनापि वारिणा ॥
ज्वरे त्रिदोषजे घोरे सन्निपाते च दारुणे ।
प्लीहार्शो गुल्मवाते च शूले च परिणामजे ॥
मन्दाग्नौ ग्रहणीरोगे ज्वरे चैवातिसारके ।
अयं प्राणेश्वरो नाम भवेन्मृत्युविवर्जितः ।
सर्वरोगविषघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥

टीका—पारे की भस्म १ भाग, सोना मक्खी की भस्म २ भाग, अभ्रक की भस्म ३ भाग, तामे की भस्म ४ भाग, ये सब लेकर मुसली के स्वरस में घोंटे तथा उसमें १ भाग शुद्ध गन्धक मिलावे, खलमें ६ घण्टे तक बराबर घोंटे, सुखा कर कांचकी शीशी में रख कर मुद्रा देकर बन्द करे । उसके ऊपर खड़िया मिट्टी से सात कपड़मिट्टी करै और सुखावे, फिर सुखा कर उसके चारों तरफ बालुका से पूरण करे, १२ घण्टे बराबर आंच जलावे, तब रसों में राजा यह प्राणेश्वर रस सिद्ध हो जाता है । जब सिद्ध हो जाय तब देवता-पूजन वगैरह धार्मिक क्रिया करे । इस औषधि के सेवन करनेके बाद नीचे लिखा चूर्ण अनुपानरूप सेवन करे ।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

अनुपान

काली मिर्च, सोंठ, सज्जीखार, जवाखार, सुहागा, पांचो नमक, हींग, चित्रक, अजमोदा, जीरा सफेद एक-एक भाग तथा सौंफ ४ भाग सब को चूर्ण करके प्रतिदिन सेवन करे। इस रस का दूसरा नाम रस राजेन्द्र है। यह प्राणियों को शांति करनेवाला प्रसिद्ध है। वास्तव में इस का दूसरा नाम प्राणेश्वर रस है। प्राणों के निकलने के समय भी यह प्राणों का रक्षक है। इसको पानके रसके साथ गर्म जल के साथ सेवन करे तो यह त्रिदोषज ज्वर, कठिन से कठिन सन्निपात, प्लीहा, गुल्म रोग, बात रोग, परिणाम-जन्य शूल, मन्दाग्नि, ग्रहणी और ज्वरातिसार में लाभदायक है। रोगरूपी विष का नाश करनेवाला और मृत्यु को जीतनेवाला यह प्राणेश्वररस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है

१२६—जलोदरे शूलगजांकुशरसः

निष्कत्रयं शुद्धसूतं द्विनिष्कं शुद्धटंकणम्।
गंधकं पंचभागं च चैकनिष्कश्च तिन्दुकः॥ १॥
चतुर्निष्कश्च जैपालः तस्य द्विगुणताम्रकम्।
सर्वतुल्य-तिलक्षारः वृक्षाम्लं क्षारमेव च॥ २॥
तद्वत्पलाशभस्मं च षण्णिष्कं सैंधवोषणम्।
यवक्षारविड्लवणानि वर्चलसामुद्रके तथा॥ ३॥
पिप्पलीत्रयनिष्कं वै चार्कदुग्धेन मर्दयेत्।
निष्कमात्रप्रयोगेण जलोदरहरश्च सः॥ ४॥
शूलगजांकुशरसः पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—८ माशा शुद्ध पारा, ६ माशा शुद्ध सुहागा, १। तोला शुद्धगन्धक, ३ माशा शुद्ध कुचला, १ तोला शुद्ध जमालगोटा, २ तोला तामे की भस्म, ५॥ तोला तिली का क्षार, ५॥ तोला तिन्तड़ीक का क्षार, ५॥ तोला पलास का क्षार, १॥ तोला सेंधा नमक, १॥ तोला काली मिर्च, १॥ तोला जवाखार, १॥ तोला विड नमक, १॥ तोला काला नमक, १॥ तोला समुद्र नमक, ६ मासा पीपल इन सब को कूट कपड़छन करके अकौवा के दूध में घोंट कर तीन-तीन रत्ती के प्रमाण से गोली बनाकर अनुपानविशेष से देवे तो जलोदर दूर होवे। यह शूलगजाँकुश रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. III.] DECEMBER, 1937. [No. III.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, Amraoti, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, Kolhapur, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah, U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, Arrah.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. Foreign Rs. 4-8. Single Copy 1-4.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

Om.

THE
JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. III. No. III	ARRAH (INDIA)	Decr. 1937.

PODANAPURA AND TAKṢAŚILA.

BY

KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.

Takṣaśilā was a flourishing city of ancient India and it has been identified with the ruins near Shāhdheri in the Rawalpindi district of the Punjab province.[1] Likewise Podanapura was an important town of India with a very remote antiquity; but so far it has not been pointed out with a certainty that where it had its location. The learned editor of the "Bhavisayatta Kahā" in his introduction, however, endeavoured to locate Podanapura in the Punjab province, rather he identified it with Takṣaśilā.[2] But taking into consideration the available information about Podanapura his view is hardly tenable. In the following lines I shall collect and give the available information about Podanapura, endeavouring to point its most probable locality.

1. Ancient Geography of India, Notes p. 681.
2. Gaekwad Oriental Series No. XX.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

In the history of the Jainas, Podanapura holds a prominent place and the earliest mention of it in the Jaina literature, is found in the "Padmacarit" of Raviṣena, where it has been described as Pautana, the capital of Vāhubalî, who was the son of Ṛṣabhadeva, the first Jaina Tîrthankara and who having fought successfully with his elder brother Bharata Cakravarti, renounced the world and became a naked saint, only to be first to attain liberation in this cycle of time.[1] This very story has been narrated also, by the authors of Harivaṃśapurāṇa[2] and Mahāpurāna.[3] They style it as Podana. In the Mahāpurāṇa it is said that the messenger who was sent by Bharat to Bāhubali's capital Podanapur saw it filled with rice and sugarcane fields and the remarkable thing is that he reached Podanapura from Ayodhyā in a limited time. And it is stated in Harivamśapurāṇa that the messenger started from Ayodhya to west in order to reach Podanapura.[4]

Besides Podanapura's prominent mention in connection with Vāhubalî, we hear of it in the life story of Pārśvanātha, the 23rd Tîrthankara. The scene of the very first prebirth of the pious soul of Lord Pārśva is laid up in Podanapura of the time of one Rājā Aravinda. Aravinda's priest was Viśwabhūti, who had two sons Kamaṭha and Marubhūti. The latter's soul becomes the great Jain saint in an after birth.[5] The story is so fascinating that it has been narrated by many a Jain poet. The renowned author of the "Pārśvābhyudaya," I mean Sri Jinasena, intervenes the most of the famous 'Meghadūta' of Kālidās in his Kāvya. He had pointed there that Kamaṭha, the brother of Marubhūti, having been banished from Podanapura, joined an Aśrama of Tāpasas at the Rāmgiri hill, which was situated on a bank of a river.

Śrî Vādirājsûri in his "Pārśvacarit" has also described Podanapura, as the capital of Suramyadeśa, famous for its Sāli

1. Padmacarit, Parva IV, sls. 67—77.
2. Harivaṃśa purāṇa sarga XI.
3. Mahāpurāna (Indore ed) Parva XXXV.
4. Harivaṃśa, Surga XI Sl. 79.
5. Bloomfield's Life and Stories of Pārcvanātha & भगवान पार्श्वनाथ

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

rice and had in its vicinity a mountain named Bhûtācala.[1] Śri Guṇabhadrācārya in his "Uttarapurāṇa"[2] and Bhāvadevasūri in his "Pārśvacarit" also, describe this story and mention Podanapura as Paudana and Potana respectively.[3x]

Kavi Dhanapāla in his "Bhavisayattakahā" also, mentions Podanapura. As the king of Kuru country refused to give his daughter in marriage to the King of Podanapura, the latter attacked him and a battle was fought. The allies of Kurus were Pancāla, Maccha and Kacchavas (Pancala-maccha-Kacchehivohi). The allies of the opposite king of Podanapura were Sindhupati, Lambakaṇṇa and a few others.[3]

In the "Uttarapurāṇa" of Guṇabhadrācārya Podanapura has been described again and again as the capital of Suramya country which was situated in the southern part of Bharat or Bhāratavarṣa.[4] Besides Pārśvanātha, as we have already seen, Podanapura has been connected there with the stories of Nārāyaṇa Tripraṣṭa and various other kings. One of the kings of Podanapura by name Pūraṇachandra had for his queen the princess of the king of Sāketa.[5] Another king of Podanapura was Vasusena, whose queen Nandā being a beautiful lady was taken away treachorously by his friend Canḍa, the king of Malaya.[6] In the Rāmāyaṇa period the king of Podanapura was Traṇapingala,[7] while in the times of Mahābhārata one Indravarmā ruled there, who was a descendant of Vāhubali.[8] King Siṃharatha of Podanapura had enemity with Jarāsindha of Rājagraha.[9] Lastly when Mahāvîra, the last Jaina

1. प्रथम सर्ग श्लोक ३७—३८, ४८ and सर्ग द्वितीय श्लोक ६५
2. जंबूविभूषणे द्वीपमरते दक्षिणे महान्।
   सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्णं पोदनं पुरं॥
3x. नगरं विपुलाऽऽकारद्योतनं पोतनाभिधम्।
3. G. O. S. XX.
4. Uttarapurāṇa Parva 57.
5. Uttarapurāṇa (Indore ed.) 59, 208 ff.
6. *Ibid*, 60, 50—57.
7. *Ibid*, 72, 201.
8. *Ibid*, 67, 223—5.
9. *Ibid*, 70, 353—361.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

Tîrthankara graced this country by his noble and pious presence, king Vidyudrāj ruled over Podanapura. His son Vidyutprabha was well-versed in the notorious art of theft and had his headquarters at Rājagraha.[1]

Even the later Jain authors such as Sakalakîrti in his "Adipurâna"[2] and Doddhiya in his "Bhujabalicarit" mention Podanapura as the capital of Vāhubalî. The latter states that Bhujabali (Vāhubalî) the brother of Bharata was the ruler of Podanapura. Owing to some misunderstanding there was a battle between the two brothers, in which Bharata was defeated. Bhujabali however renounced the kingdom and became an ascetic. Bharata had a golden statue of Bhujabali made and set up there, which once became infested with Kukkuta Sarpas. A Jain teacher, named Jinasena, who visited southern Madhura, gave an account of the image at Podanapura to Kālaladevî, mother of Chamuṇḍarāya, who vowed that she would not taste milk until she saw Gommaṭa. Being informed of this by his wife Ajitādevi, Chamuṇḍarāya set out with his mother on his journey to Podanapura. While staying at Śravaṇabelgola he came to know about the Kukkuṭa Sarpas. Hence he dropped his journey and set a colossal of Vāhubali there.[3]

The Jaina Kanarese literature also possess many a work such as Aditpurāṇa, Bharateśa-vaibhava, Bhujabaliśataka, Gommaṭeśvaracharit, Rājāvalikathe and Sthalapurāṇa, which give the story of Vāhubali with its all details and name Podanapura as his capital, where emperor Bharata erected a colossal of his brother when he became a great ascetic.[4] Inscription No. 234 of about 1180 at Śravanabelgola which is in the form of a short Kannada poem in praise of Gommaṭa states that Bhujabali was the ruler of Podanapura, who retiring from the world performed penances and became a Kevali. Vāhubali or Bhujabali attained such eminence by his

1. *Ibid*, 76, 51—55

2. प्राहिणोदुत्तमं दूतं नीतिशास्त्रविशारदम्।
स ततो दिवसैः कैश्चिद्गत्वा तत्पोदनं पुरम् ॥९६॥

3. Narasimhachara Śravaṇa Belgola pp. 10—11

4. *Ibid*, p. 10.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

victory over Karma, that Bharata erected at Podanapura an image in his form, 525 bow lengths in height, which bacame infested of cockatrices. Chāmuṇḍaraya tried to visit it.[1]

Thus it is clear from the above accounts that :—

1. Podanapura styled variously as Potana, Podana, Paudana and Podanpura, was a very ancient city, which occupied a prominent place in the traditional history of the Jainās.
2. That it was situated in the country named Suramyadeśa in the southern part of Bhāratavarsha.
3. That rulers of Podanapura were connected with the house of Sāketa (Ayodhyā), being the descendants of Vāhubali, who was the son of Ṛsabhadeva of Ayodhyā.
4. That these rulers of Podanapura had friendly or adverse relations with the kings of Ayodhyā, Sindhu, Simhapura, Rājagraha Kuru, Malaya, etc.
5. That in its vicinity were the mountains of Bhūtācala, Rāmagiri and the country around was very fertile, well irrigated by the waters of various rivers, which produced Śāli rice and sugarcane. The forest round Podanapura had the trees of Sandal and camphor peculiar to it, which are even to-day the special trees of southern India.
6. And that at Podanapura there was a colossal of Vāhubali, which once became infested with the cockatrices and was mostly visited by the people of the extreme South India up to a very late period, so much so that Chāmundrāya with his mother in the 10th century set out for its pilgrimage ; but could not reach owing to its being inaccessible at the time. Thus it is clear that Podanapura was regarded a Tirtha by the Jainas of South India since it became sanctified with the extreme Tapaśyā and attainment of omniscience at the spot by Śri Vāhubali.

1. Ec. II pp. 97—99.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

Turning to the non-Jain literature, we find Podanapura mentioned in the Buddhist Jātakas as the capital of Assakadeśa and the Suttanipāta says that the Assaka country was beside the Godāvāri river and lay between the Sākya mountains, Western Ghauts and the Daṇḍakārṇya. The great Sanskrit lexicon Vrahdabhidhāna points that Paunḍya was the capital of King Ashamaka and the Ashamaka country is said to be in the south or south-west of India in Rāmāyaṇa (Kiṣkandhā-kanda).[1]

But the question here arises that whether Podanapur of the Jains books is identical with the Potana and Paundya of the non-Jain literature? I would give its reply in affermative, since I find mentioned the country of Ashamaka in the Mahāpurana as Ashamaka-Ramyaka[2]. It means that either Ashamaka country was also known as Ramyaka or Suramya or it became split into two territories during the later period. The Jain Harivaṃśapurāṇa, while giving the names of those countries of southern part of India, which the sons of Ṛṣabhadeva renounced owing to the aggression of their elder brother Bharat, names the country of Ashamaka among them.[3] The Varahamihira has also counted thē Ashamaka people with those living in south India and just after the Andhras.[4] Rājasekhar in his "Kāvyamimānsā" placed also the Ashamaka country in south in very clear words.[5] Śākaṭayana, who was very well acquainted with south India, hed also named the Ashamakas after the Salvas (*i.e.*, Andhras).[6] Kauṭilya peculiarised the country of Ashamaka for its diamonds and named it with the Raṣṭrikas.[7] In the region beyond the Vindhyas, which was in fact the Dakṣiṇāpatha of the ancient India, we find Golcunda, the famous place for diamonds in the district of Aurangabad. Hence Ashamaka country seems to lie somewhere in the modern Berar and Nizam territories.

1. Jain Gazette XXII, 211.
2. Parva 16 Sb. 152.
3. Sarga xi sls. 70--71.
4. Ch. xvi sl. xi.
5. G. O. S. Vol. I Ch. xvii p. 92.
6. II, 4, 101.
7. अधि २ प्रकरण २९

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

The Suramya or Ramyaka country of the Jainas also seems in the light of above narrations to come into the same territory of Dakṣiṇāpatha. Moreover the Greek Geographer Ptolemy (140 A.C.) in his map of ancient India locates a country named Ramnai, which also falls in the modern Central Provinces and Berar with some division of the Nizam's dominions. It is most probable that Ramnai of Ptolemy represents the Suramya or Ramyaka of the Jain books. Therefore Podanapura being the capital of Ashamaka or Ramyaka should be find also, somewhere in the country named above.

To make the point clear still further, let us see the whereabouts of the surrounding places of Podonapura as named in above Jaina narrations.

Mountains of Bhūtācala and Rāmgiri are mentioned as we have already seen in connection with a prebirth of Lord Pārśva; Vādirāja says that Kamaṭha went to join an āśrama on mountain Bhūtācala, while Jinasena tells us that Kamaṭha went to an āśrama of Tāpasas on Rāmagiri hill. It is possible that either the both mountains were identical or they formed two peaks of the same range. Rāmgiri has been identified with the modern Rāmateka in the Nāgpur division.[1] As to Bhūtācala, it ought to be somewhere in the vicinity of Rāmṭeka. My friend Mr. Govind Pai suggests that Bhūtācala should be Betul of the same division, though it is a town at present but has many hills round about. Moreover it is not of much distance from the Ashamaka country as pointed in the map annexed to Prof. R. K. Mookerji's "Fundamental Unity of India." The Matsyapurāṇa locates a country of the name of Tāpasas itself on the northern part of Dakṣināpatha,[2] which gets support from the mention of the same country as *Tabassoi* by Ptolemy. Therefore it is possible that Kamaṭha went to Bhutācala or Rāmagiri in the Tāpasa country to observe the penances there. Be as it may, it is clear from every

1. The Geog. Dictionary of ancient & Mod. India, जैसिमा: ३—५४. उमादित्याचार्य mentioned रामगिरि in त्रिकलिंग which is modern C. P.

2 Panini Office ed. SBH. xvii ch. cxiv.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

view points that Podanapura and its surrounding mountains were situated in the northern part of Dakṣiṇāpatha.

The Uttarapurāṇa has a mention of Malaya mountains, with the Kubjaka Sallaki forest as well, where Marubhuti of Podanapura having died, was born as an elephant.[1] Cunningham locates this mountain in the Drāviḍ country.[2] Yuang Chwang put it 3000 li south from Kānchi. He " takes us from somewhere near Madura south-west of Tinnevelly district, where he refers to the Sandal producing Malaya mountain, then he speaks of Potalika (Podimalai hill.)[3] The Jaina author further connect a river Vegavati with the story of Marubhûti, which too could be find in the Dravid country.[4] The Malayadeśa, whose king eloped with the consort of the king of Podanapura as mentioned above, was also in the south India.[5] The princess of Podanapūra was given in marriage to the king of Siṃhapūra and it may be found just in the neighbourhood of Podanapura being situated in the southern part of Orissa.[6] Khāravela's queen was a princess of Siṃhapur.[7] Hence it is obvious from the above facts that the Jaina and other authors locate Podanapura and its environments in the southern part of India and its location on the bank of Godavari, according to Buddhist evidence is justified.

However we cannot take Podanapura to the extreme south of India, since in that case it would not be tenable to find the kings of Podanapura making friendship or waging war with the kings of Kurus, Sindhus and Kośalas ; as they did in fact. Moreover we find Chāmuṇḍarāya hastening to the northern border of south India to have a glimpse of Vāhubali's colossal at Podanapura. Had Podanapura been in extreme south Chāmuṇḍa Rāya had no need to travel over to northern border of South India ?

1. मलयकुञ्जकाख्याते विपुले सल्लकीवने । etc.
2. Geog. of ancient India, New ed, p. 627.
3. *Ibid* Notes p. 741. 4. *Ibid* p. 739. 5. *Ibid.*
6. Some Contributions of South India to Indian Culture p. 33.
7. *Ibid*, & J. B. O. R. S. iv 378.

My friend Mr. Govind Pai identifies Podanapura with Bodhan in the Nizam Territories; to whom I am indebted for many useful suggestions in writing this article.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

Now since the locality of Podanapura is being held by the Jaina as well as non-Jaina evidence to be in the northern border of South India, it is apparently useless to talk of it in the extreme North-West of India. That part of India never abound with Śāli rice, Sandal trees and cockatrices. On the more it was never heard that there was a Jaina colossal in that part of India. South India has a great claim over Vāhubali, as he was their first king, who was lucky to be first to gain Liberation in this cycle of India; therefore they set his more than one colossal and adored him more than the Jainas of northern India. But in the introduction of the Bhavisayatta-Kana, we find the following remarks to the contrary "Dr. Jacobi, on the strength of references in the Paumacariya of Vimalasuri, identifies it with Takassaila, but becomes doubtful when he finds our author referring to the army of Poyanavai as Sakeyanarindasinnu xiv 13,9 and Sakkeyajoha xiv 19,2. This Sakey or Sakkeya he identifies with Saketa or Ayodhya. Now it is quite true that Sakeya is the correct Prakrit for Saketa and that Sakkeya is an alternative form for the same. But there is another possible phonological equivalent of Sakey. Both these can also be Prakrit for Sakeya. Historically there is nothing against this identification. Saka kings have ruled over Taksasila. If this be correct, then there is nothing to come in the way of Podanapura being identified with Takṣasila. The very close relations that appear to exist between the Sindhus and the Poyanas can be understood on the strength of a close geographical proximity, and not if they were apart as Sindh and Ayodhya."[1]

With all deffidence to the learned scholar, I make bold to say that these remarks are not based on sound evidence. The "Paumacariya" is not before me yet it is clear from the above facts that Podanapura of "Padmapurāṇa" with all other Digambara Jaina works was situated in the northern part of South India. Kavi Dhanapāla too seems to locate it likewise, since he styles the army of Podanapura as Sakeyanarindusinnu, which term has puzzled even Dr. Jacobi, but in fact it can be reconciled easily, since we know that the kings of Podanapura were the descendants of Vāhubali, who was a scion and hailed from the house of Sāketa (Ayodhyā). It

1. G. O. S. xx Intrs. pp. 9—10.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

cannot be reconciled with the Sakas of Takṣaśilā, since it is not evident that any of them professed or patronised Jainism. The remaining locations of Dhanapāla are also to be traced easily, just in the vicinity of Podanapura on Godavari. The close geographical proximity with concern to mutual relations existing between Sindhus and Poyanas, as described by Dhanapāla, comes near more clearly in placing Podanapura on the Bank of Godaveri and not at Takṣaśilā. For we know that the Sindhu of the Jaina writers was not the valley of great Indus, but it meant country near Vindhyā mountains. The people af Avantī are styled as Sindhus by Dhanapāl can be relied upon, for we know that the Jaina authors place Viśālā in Sindhudesa[1] and Kālīdāsa called Ujjayani itself as Viśālā.[2] Hence the close relations between the people of closed connected countries-called Sindhus and Poyanas is but quite natural. And this fact reconciles other difficulty as well. In the above named Introduction a great difficulty is felt in identifying the Kacchas, which has been dealt with as a very important place at the time of war between Poyanas and Kurus in the above Kahā. Certainly its position was similar to that of Belgium in the last great war. It is attempted in the said Introduction to identify it with Kāśmira, but that not with certainty and accuracy. On the otherhand our location of Podanapura in the northern border of south India easily waves away this difficulty; for the Kacchas meant in the Kahā, seems to be no other people than the Kacchawaha Kṣatriyas of Naravara district (Gwalior State), who had a strong and old settlement of theirs at that place. Its position really comes to that of Belgium in the case of war between Kurus and Poyanas. Hence we can say with certainty that Kavi Dhanapāla too placed Podanapura in the southern part of India.

Besides places named as Podanur, Potali etc., are still found in South India; but Taksasila has never been styled or had in its neighbourhood, places of that name.

Under the circumstances and available evidence it is justified to say that the Podanapura of the Jaina books was not Taksaśila, rather it was a prominent city of ancient Daksinapatha.

1. उत्तरपुराण, श्रेणिक-चरित्र, आराधनाकथाकोष etc.
2. मेघदूतकाव्य " श्रीविशालां विशालाम् ।"

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

Knowledge and Conduct in Jaina Scriptures

(By Principal Kalipada Mitra, M. A., B. L., Sāhitya-kaustubha.)

In the Upanishad it is said :

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
... ...
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

The self cannot be gained by scripture-knowledge (Vedic knowledge), nor by intellect, nor by extensive learning.

He who has not cut off his attachment to wicked conduct, who is not tranquil, nor subdued, nor has his mind in peace, can by mere knowledge, reach *self*.

Here knowledge itself, howsoever great, availeth not, but what is of greater importance is conduct, which by causing cessation of wickedness, subjugation of passions, and creation of peace and tranquillity can help self-realisation.

In the Jaina scriptures too by far the greatest importance is attached to Samyama (संयम). I am quoting a few *sūtras* by way of illustrating the point.

सामाइयमाईयं सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ ।
तस्सवि सारो चरणं सारो चरणस्स निव्वाणं ॥

The knowledge of scriptures (श्रुतज्ञानम्) begins from *sāmāyikam* and extends to *Bindusāra*. But *caraṇam* surpasses *śrutajñānam* in value. Indeed *caraṇam* is action known as *saṃvara* (ननु चरणं नाम संवररूपः क्रिया), check or restraint.

But it may be said that both *jñāna* and *kriyā* are necessary for the attainment of *mokṣa*, for the saying is that without knowledge

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

action is killed (becomes ineffectual) "हया अनाणतो किया" ; therefore both should be treated as equal ; why should preference be given to *caraṇaṃ* ? The answer is : It is for the following reason. *Jñāna* only reveals or brings-to-light (नाणं पयासयं) ; *caraṇaṃ*, on the other hand, prevents the acquisition (or the inflow) of new *karman* and brings about the *nirjarā* (or the using up) of the previously collected *karman*. *Jñana* is only limited to the task of lighting up, *caraṇaṃ* on the other hand purifies (the self) of its *karman*-impurities and has therefore the principal qualification, hence it has greater value than *jñāna*. It is also said :

नाणं पयासयं चिय गुत्ति विसुद्धीफलं च जं चरणं ।
मोक्खो य दुगाहणो चरणं नाणस्स तो सारो ॥

The commentary says, both *jñāna* and *kriyā* are the causes of of nirvāṇa, only that the first place (मुख्य) is to be given to *kriyā*, and the second place (गौण) to *jñāna*, in as much as *mukti* is not attained even while *kevalu jñāna* is reached *i.e.*, immediately along with it, but *mukti* is attained after the *caraṇaṃ* of the last moment of the *sailesī*[1] stage, hence *caraṇaṃ* is the primary cause of nirvāṇa. It is said :

जं सव्वनाणलंभानंतरमहवा न मुच्चए सव्वो ।
मुच्चइ य सव्वसंवरलाभे तो सो पहाणयरो ॥

The niryuktikāra says :

सुयनाणम्मिवि जीवो वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं ।
जो तवसंजममइए जोगे न चएइ वोढुं जे ।

The *jīva* possessing (lit. existing in) even the *śrutajñāna* cannot reach *mokṣa* if he cannot practise self-control such as *tapas* and *saṃyama*, *i.e.*, if he cannot practise austerities and possess self-restraint. Without good *kriyā* mere knowledge cannot reach you the desired object, even as much as a boat which has a steers man

1. *Sailesī* is the 72nd stage of Ezertion in Righteousness in lect. 29 of Ācārāṅga Sūtra (S. B. E. Vol. XXII), the 73rd and the last stage being अकर्मता or freedom from कर्मन्.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

knowing the way (cannot reach the desired destination) if there be no wind to lead it in the desired direction. It is said :

जह छेयलद्धनिज्जामओऽवि वाणिय गइच्छिय भूमिं।
वाएण विणा पोओ न चयइ महण्णवं तरिउं ॥
तह नाणलद्धनिज्जामओऽवि सिद्धिवसहिं न पाउणइ।
निउणोऽवि जीवपोओ तवसंजममारुयविहीणो ॥

As a boat which possesses a clever helmsman cannot reach the land desired by merchants by crossing the great sea without (favourable) wind, so (the boat of) the *jīva* who possesses (the clever helmsman of) *śruta-jñāna* cannot reach the desired land (**सिद्धि-वसति**) by crossing the ocean (of **भव**) without the help (wind) of **संयमतपोनियम**, self-restraint, austerities and observances. Therefore one should practise self-restraint and austerities without heedlessness (**प्रमाद**).

संसार-सागराओ उव्वुड्ढो मा पुण निवुड्ढेज्जा।
चरणगुणविप्पहीणो, बुड्ढइ सुबहुंपि जानंतो ॥

Having once emerged out of the ocean of *saṃsāra*, do not again merge into it. One who is completely devoid of the qualities of *caraṇaṃ* sinks again, although he knows much.

Here an example is given of a turtle (**कूर्म**) who with much difficulty emerges out of a great lake rendered dark by the intricate tangle of moss, grass and leaves, who looks upon the full moon, but attracted by the ties of affection for relations, plunges back into the lake. He is the symbol of ignorance. Why should a knower plunge back ? Because even vast knowledge is of no avail to the knower who is totally devoid of *caraṇaṃ*, for his knowledge, empty as it is of fruit, is but no-knowledge.

सुबहुंपि सुयमहीयं किं काहे चरणविप्पहीणस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता देवसयसहस्सकोडीवि ॥

What can immense knowledge of the scriptures do to one who is devoid of *caraṇaṃ* ? Of what avail are crores of hundreds

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

of thousands of lighted lamps to the blind ?

अप्पंपि सुयमहीयं पगासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
एक्कोऽवि जह पईवो सचक्खुयस्सा पयासेइ ॥

Even the knowledge of one who has read but a little of the scriptures acts as the revealer if he practises *caraṇaṃ*. Even if there be one lamp, it is the revealer to him who has the eye.

जहा खरो चंदणभारवाही भारस्स भागी नहु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी नहुसुग्गतिए ॥

As an ass bearing the burden of sandal wood is the sharer only of the burden and not of the sandal wood, even so, the knower, void of *caraṇaṃ*, bears the burden of knowledge, but is not the sharer of good attainment.

The commentary explains : The ass only suffers the pain of bearing the heavy load of the sandal wood, and does not enjoy the pleasure of smearing the body with sandal-paste etc. The knower also who is not self-restrained suffers the pain of acquiring knowledge—reading, remembering and thinking—but does not attain the destination of good deva-hood or man-hood.

हयंनाणं कियाहीणं हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो प अंधयो ॥

Knowledge without action is killed (becomes ineffective), action without knowledge is killed. The lame man, looking on, was burnt, so also, was the blind man, while fleeing. Here a story is told : Once there was a conflagration in a great city ; in it lived two helpless men · the one was lame, the other blind. The people of the city, frightened by the fire, with eyes rolling in distraction, began to flee from it, but the lame man, knowing full well the way of escape, but deprived of the faculty of movement, could not flee but was consumed by the gradually approaching fire. The blind man also possessed of the faculty of moving, but deprived of the faculty of seeing, and hence not knowing the way of escape, ran towards

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

the fire and fell into a ditch brimful of burning coals and was consumed. The knower without self-restraint is unable to flee from the fire of *karman*; similarly the other fails without knowledge. It is said (by the Tirthakaras) that only the conjunction of *jñāna* and *kriyā* bears the fruit of *mokṣa*. Not by a single wheel does the chariot move. The blind man and the lame man having come together in the wood, and thus united, entered the city.

Here a story is told by way of illustration. There was a forest fire. The blind man, not knowing (seeing), was fleeing towards it, but being warned by a lame man, "Don't flee in that direction, for the fire is there", asked, "Where should I go?" The lame one said, "I am lame, and cannot move, so in front I can't show the way lying at a distance; put me on your shoulder so that I may avoid the obstacles of thorns, fire etc., and with ease, lead you to the city." The other agreed and both of them reached the city happily.

नाणं पयासयं सोहओ तवो संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ॥

Knowledge is the revealer, *tapas* (practice of austerities) is the purifier, *saṃyama* (self-restraint) is the protector. In the scriptures of the Jinas it is said that only in the conjunction of the three lies liberation (*mokṣa*).

Here the following imagery is given. There is an empty room, with a door slightly ajar, and many windows, filled with profuse dust and filth driven in by the wind. Now some one wants to reside in the room; he wants to clean it; he shuts the door and all the windows for preventing the entry of dust and filth from outside. He lights a lamp in the middle of the room, and employs a man servant in drawing together the filth etc., in this affair, the lamp does service in revealing the impurity 'such as dust etc., the shutting of the door and the window in preventing the entry of outside dust, and the man servant in purifying by drawing together the dust (and ejecting it).

Here *jñānā* is that lamp which by its very nature, does service by revealing the impurity which is to be removed. *Kriyā*

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

again in the shape of *tapas* and *saṃyama* does good ; *karman* of eight kinds collected in many *bhavas* is purified by *tapas*, even as much as filth collected in the house is ejected by the man servant. *Saṃyama* is the closing of the doors of *āsrava* (*karman* inflow), it guards by restraining the coming in of the filth of new *karman*, even as much as the shutting of windows prevents the coming in of filth driven in by the wind.

It may be objected, that this militates against the आगम-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

as it leaves out *samyagdarśana* ; but there is no fault here since *darśana* is included in *jñāṇa*.

In the *Pravacanasāra* of Kunda-kunda Acāryya Ed. by B. Faddegon (Jain Literature Society Series, Vol I Cambridge, 1935), *Srutaskandha* we read :

37. One does not attain by means of scripture-knowledge, if one does not believe in the categories (*arthas*), nor does one believing in the categories, but lacking self-restraint, arrive at nirvāṇa

Amṛtacandra Suri explains it in his *Tattva-dīpikā* thus—" One does not attain perfection through knowledge produced by scripture, but destitute of faith ; or through faith, combined with that knowledge, but devoid of self-restraint."

41. Considering the groups of enemies and friends as the same, pleasure and pain as the same, praise and blame as the same, clay and gold as the same, the sramaṇa[1] is moreover the same in regard to life and death.

Commentary—Self-restraint (*saṃyama*) is conduct accompained by absolute (*samyag*) faith and knowledge. Conduct is duty (dharma) ; duty is equanimity : equanimity is a self-evolution devoid of infatuation and perturbation. Therefore equanimity is a characteristic of the self-restrainer.

1. The *prākrit* form *samaṇa* presents a favourite similarity in sound to *śama*.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

So in regard to the two groups, enemies and friends, pleasure and pain, praise and blame, clay and gold, life and death he is the same.

Whoso being free from the infatuation, ' this one is strange to me, this one belongs to me ; this is joy, this is a torment, this is an elevation to me, this is humiliation ' has not in regard to any thing the duality of attachment, and aversion, who continually experiences the self as having for nature pure faith and knowledge, who having appropriated enemies and friends, pleasure and pain, praise and blame, clay and gold, life and death indistinguishably, merely as knowables, immovably abides in the self, which has knowledge for self, truly possesses equanimity in every regard.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

The Jaina Chronology.

(By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.)

Continued from Vol. III, page 41.

"THE PRE-HISTORICAL PERIOD EVENTS."

No.	Period & Date.	Event.
76	Māgha Kṛaṣṇa Dvādaśi.	After nine caṛoṛ sāgṛopamas since Puṣpadanta got liberated, Śitalanātha, the tenth Tirthankara, born at Bhadrapura. His father was king Draḍaratha and the name of his mother was Sunandā.
77	Do.	After enjoying a peaceful worldly life, Śitalanātha renounced the world and set himself to observe severe penances and austerities as a naked Śramaṇa. As a saint, he took his first meal at the house of king Punarvasu of Ariṣṭapura.
78	Pauṣa Kraṣṇa Caturdaśi.	At the end of three years, Śitalanātha destroyed the four ghātiya-karmas and became an omniscient teacher.
79	Aśvina Śukla Aṣṭami.	Śitalanātha having preached the Dharma at large came to mount Sammed Sikhara and attained Nirvāna from there.
80	Kārtika Śukla Purṇimā.	King Megharatha of Bhaddalpur in the Malayadesa accepted the doctrines of Brāhmana Maunḍaśālayana and started to give gifts of gold, elephant, horse etc. Hence forward the Brāhmaṇas became hostile to Jainism. [*Ref. Uttarapurāṇa Parva 56, Slks. 30–86.*]

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

No.	Period & Date.	Event.
81	Phālguna Kraṣna Ekādasi.	Śreyāṁsanātha, the eleventh Tîrthankara born at Siṃhapura, when one Sagropama years were elapsed since the Niravāṇa of Śri Śitalanātha. His father King Viṣṇu ruled over Siṃhapura and his mother was queen Nandā.
	Do.	Having ruled for a long period, Śreyānsanātha installed his son by name Sreyaṃkara on the throne of Siṃhapura and adopted the life of a Digambara Muni.
83	Do. Tryodaṣi.	Śramaṇa Śreyānsa took his first meal from the hands of Prince Nanda of Siddhartapura.
84	Māgha Kṛaṣna Amāvasyā.	Śreyānsanātha having become an omniscient Teacher, began to preach Truth. The teachings of Jainism once again prevailed, since they became eclipsed after Śîtalanātha.
85	.....	First Nārāyaṇa Tṛaprasṭa and Baladeva Vijaya flourished at Podanapura, who defeated the greatest monarch of that time named Aśvagrîva. Śrivijaya succeeded Tṛaprasṭa, who rescued his sister Tārā, absconded by a Vidyādhara prince.
	Phālguna Kṛaṣna Chaturdasi.	After 54 sagropama years since Śreyānsanātha liberated Himself, Tîrthankara Vāsupûjya flourished. Since three *palya* years before the birth of Vāsupujya Jainism became extinguished. Vāsupujya's parents were king Vasupujya and queen Jayāvati.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

No.	Period & Date.	Event.
87	Phālguna Kṛaṣna Caturdasi.	Prince Vāsupūjya having lived a celibate's life, became disgusted wiih the world and renounced it.
88	Māgha Śukla Dvādasi.	Vāsupūjya became an omniscient world Teacher and began to preach at large.
89	Bhādrapada Śukla Caturdasi.	Vāsupūjya Tirathankara reached Mandāragiri (near modern Bhāgalapura in Behar) and attained Niravāṇa from that place.
90	.....	Rājā Brahma ruled at Dvārāvati and from his queen Uṣā the second Nārāyana Dviprasṭa was born, who killed his antagonist and a great oppressor of the time named Tāraka. His brother was Achala Baladeva.
91	Māgha Śukla Caturdasi.	After 30 sagropamas since the liberation of Vāsupūjya, Tirthankara Vimala was born. His father named Sukratavarma was a Kṣatriya ruler of Kāmpilya and his mother was known as queen Śyāmā. Before Vimala's birth Jainism lost its sway for one Palya years. (*Ibid*, Parva 59 Sl. 23.)
92	Māgha Śukla Chaturthi.	Prince Vimala having enjoyed the worldly life became a naked śramana and observed hard penances.
93	Pauṣa Kṛaṣṇā Daśami.	Vimalanātha became a *Kevalī Jina* and preached Jainism in the Āryakhanda.
94	Āṣāḍa Kṛaṣṇā Aṣṭami.	Vimalanātha attained Nirvāṇa from mt. Sammeda-Sikhara. (*Ibid*, 59-23)

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

No.	Period & Date.	Event.
95	.....	Meru and Mandara were the renowned apostles of Tīrathankara Vimala, who were sons of Rājā Anantavijaya of Mathura. (*Ibid*, 59-108.)
96	.....	Baladeva Dharma and Nārāyaṇa Svayambhū flourished at Dvārāvati. (*Ibid*, 59-63).
97	Jyeṣṭha Kṛaṣṇā Dvādasī.	After nine Sāgaropamas and $\frac{3}{4}$ palya Vimala attained Nirvāṇa, Anantanātha born at Ajodhyā in the palace of Rājā Siṃhasena and queen Jayaśyāmā.
98	Do.	Anantanātha renounced the world and observed penances for two months.
99	Chaitra Kṛaṣṇā Amāvasyā.	Anantanātha became an omniscient teacher and began to preach the Dharma.
100	Do.	Anantanātha attained to Nirvāṇa from Sammeda—Sikhara. (*Ibid*, 60-23).
101	.....	Baladeva Suprabha and Nārāyaṇa Puruṣottama flourished. (*Ibid*, 60-49).
102	...	After four sāgaropamas since Anantanātha attained Nirvāṇa, Jainism became obscure for a period of half *palya*
103	Māgha Śukla Tryodaśī.	Dharmanātha, tha fifteenth Tīrathankara born at Ratnapura where his father King Bhānu ruled with queen Suvratā.
104	Do.	Dharmanātha adopted the vow of a naked śramaṇa and observed penance for a full month.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

No.	Period & Date.	Event.
105	Pauṣa Śukla Pūrṇimā.	Dharmanātha gained omniscience and preached the Jaina Dharma once again.
106	Jyeṣtha Śukla Caturthi.	Dharmanātha attained Nirvāṇa from the mt. Sammeda-Sikhara. (*Ibid*,, 61, 21-23).
107	.. ...	Baladeva Sudarśana and Nārāyaṇa Puruṣa-Siṃha flourished. (*Ibid*, 61-56).
108		Maghawā, the third *Cakravartî* monarch appeared at Ayodhyā. (*Ibid*, 61-68).
109	.....	Sanatakumār, the fourth *cakravarti* monarch and a *kāma-kumāra* flourished at Ayodhyā. (*Ibid*, 61-104).
110	Jyeṣtha Kṛaṣnā Caturdaśi.	After three Sāgaropamas less $\frac{3}{4}$ palya since Dharmanātha attained liberation, Tirthankara Śāntinātha born at Hastiṇāpura. His father Viśwasena was a scion of the famous Kuru-vaṁśa and his mother queen Airā was a a Gāndhāra princess. He was a *cakravarti* monarch and a Kāmakamāra also.
111	Do. Tryodaśi.	Sāntinātha became a nakcd Śramaṇa and observed penances for sixteen years.
112	Pauṣa Suklā Ekadaśi.	Śāntinātha gained omniscience and he preached the Dharma as a world Teacher.
113	Jyeṣtha Kṛaṣna Caturdaśi.	Śāntinātha attained liberation from Mt. Sammeda-Sikhara. *To be Continued.*

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

THE JAINA SIDDHANTA BHĀSKARA.

(Gist of Our Hindi Portion : Vol IV, Pt. II)

p.p. 71—83. Kamta Prasad Jain has collected available material from the Jaina and non-Jaina literature referring to Rājagraha, the ancient capital of Magadha and has given an interesting historical sketch of it.

p.p. 84—89. Jainācārya Vijaya Indra Sūri has critically reviewed the Gujarāti publication entitled "*Prācina Bhāratavarṣa*" by Dr. T. L. Shah (Baroda) and has pointed out a few of his deliberate misrepresentation of facts. It is wrong to say that the Gommaṭa colossal at Śravaṇabelagola is the creation of the Mauryan emperors and Mahāvira, the last Tīrthankara attained Nirvāṇa from Vidiśā (modern Bhilsa).

p.p. 90—101. Pt. K. B. Shastri has written on the origin and history of the Jain Prākrata literature : the Apabhraṃśa variety of which is the source from which Hindi originated.

p.p. 103—109. Why the Bāhubali colossal is called Gommaṭa ? by H. Govind Pai.

p.p. 110—118. B. Agarchand Nāhaṭā has thrown light on the Jain texts dealing with astronomy and medicine. Lists of available mss. are given.

p.p. 119—122. K. P. Jain has pointed out on substantial evidence that the word 'Śri-Saṃgha' donot mean the Śvetāmbaras only. The Digambaras has also used this word for their own community. Likewise Tapā and Kharatara Gacchhas, originally belonging to the Śvetambara sect, are found also in the Kāṣṭhāsamigha of the

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

Digambara sect. Inscriptions on the Digambara images of the 11th century A. D. mention Tapāgaccha, while a Digambara ms. at the Dig: Jaina Temple Mainpuri mentions Kharatara Gaccha. This ms. was written at Dacca in Bengal and bears the date as Śrāvaṇa Kraṣṇa 8th, 2287 A. Vir.

p.p. 125. Mr. Ajita Prasada, M.A., L.L.B., describes the main shrine of the famous Jaina Temple at Dharampurā Delhi, which was built by Lala Harasukharai of Delhi in 1803 A.D.

K. P. J.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

Select Contributions to Oriental Journals.

1. *Indian Culture*—Vol. IV, No. I (July, 1937) :—

Origin of the Kadambas—by D. C. Sarcar : Traditionally Mayūra was the progenitor of the Kadambas and their family name had connection with the Kadamba tree. The writer is of opinion that the Kadambas were originally Brāhmaṇa hailing from north, they served under the sālavāhanas and found a kingdom in the Kuntala country afterwards.

2. *Journal of the Andhra Historical Research Society*—Vol. X pts. 1—4 (1936—1937) :—

Geneology & Chronology of Western Gaṅgas : From Mārasiṃha to Rakkasa Gaṅga II—by M. Govinda Pai.

3. *Karṇāṭāka Historical Review* ; Vol. IV, Nos. 1—2 (Jany.—July 1937) :—

Karṇāṭaka and Mohenjo Daro—by H. Heras: According to the writer's reading of the inscriptions on Mohenjo Daro seals. it is evident that some of them contain refarences to the people of *Karṇaṭāka.*

Delhi Sultans as Patrous of Jaina Gurus of Karṇātaka—by B. A. Saletore. The writer discusses at length and points out that the Jain teachers Siṃhakīrti and Viśālakīrti were honoured respectively by Muhammad Tughlaq and Sikandar Sūr of Delhi.

4. *Indian Historical Quarterly*—Vol. XIII, No. 3 (Sept. 1937).

Central Asiatic Provinces of the Maurya Empire—by H. C. Seth

Maurya Chandragupta & Mayrabhanj Rulers—by B. Misra.

Akbar's Religious Policy—by S. R. Sharma.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June. September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, biography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat www.umaragyanbhandar.com

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पु

Shree Sudharmaswami Gyanbhandar-Umara, Surat
www.umaragyanbhandar.com